हिन्दी तद्भव-शास्त्र

[तद्भव शब्दों का शास्त्रीय अनुशीलन]

प्रा० मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'

कलाकार प्रकाशन, पटना–३

प्रकाशक :
कलाकार प्रकाशन
पटना-३

ई० १९६१
शाके १८८३

मूल्य :
४.५०

मुद्रक :
ज्ञान प्रेस, पटना

भूमिका

प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव शब्द-शास्त्र के अधिकारी विद्वान् हैं। हिंदी भाषा के संबंध में उनसे बहुधा चर्चा होती है और मैं लाभान्वित होता हूँ। वे मौलिक चिंतन और उद्भावन की क्षमता रखते हुए भी निरभिमान हैं। उनमें वैयाकरण का आत्म-विश्वास तो है, किंतु मात्सर्य या उद्दंडता नहीं, जो वैयाकरणों का परंपरागत दुर्गुण है। व्याकरण में उनकी जो रुचि है, वह वैज्ञानिकोचित है। शास्त्रार्थ-कुशल होने पर भी, वे विश्लेषण के द्वारा तथ्यों के उद्घाटन का प्रयास करते हैं। खंडन का मोह छोड़कर मंडन के लिए वे सचेष्ट रहते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ इसका पर्याप्त प्रमाण है।

पश्चिम की नवीन भाषिकी की शब्दावली का यदि मुरलीधरजी को लाभ नहीं है तो उसकी दासता का वह बंधन भी उनपर नहीं, जिससे पश्चिम के आचार्यों के भारतीय शिष्य जकड़े हुए हैं। मुरलीधरजी का कोई विलक्षण तृतीय पंथ नहीं है।

विद्वान् लेखक ने पुस्तक के प्रथम अध्याय में प्राकृतों का ऐतिहासिक विवरण उपस्थित किया है और इस विषय में जो कुछ ज्ञातव्य है उसका उल्लेख करते हुए, वे प्राकृतों के इतिहास का पुनर्निर्माण करने में सफल हुए हैं। इसके बाद, २-१३ अध्यायों में, उन्होंने विस्तारपूर्वक हिंदी के तद्भव-तत्त्व के क्रमिक विकास का निरूपण किया है। अंत में दो उपयोगी परिशिष्ट भी हैं। प्रथम में प्रत्ययों से रचित शब्दों की सूची है, दूसरे में तद्भव-कोश है। वस्तुतः यह दूसरा परिशिष्ट अकेले ही ग्रंथ-गौरव का अधिकारी माना जा सकता है।

मैं आशा करता हूँ, पुस्तक के अगले संस्करण में, जिसकी शीघ्र ही संभावना की जा सकती है, पुस्तक के इस खंड को पूर्णतर बनाने की चेष्टा की जाएगी और 'हिंदी-अपभ्रंश-प्राकृत-संस्कृत' इस प्रकार चार स्तंभों में कोश को व्यवस्थित रूप दिया जा सकेगा।

अध्यक्ष,
हिंदी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

नलिनविलोचन शर्मा
१४-८-६१

दो शब्द

हिन्दी में तद्भव-तत्त्व का वह प्रथम शास्त्रीय अनुशीलन प्रस्तुत करने में हमारा यही उद्देश्य रहा है कि नित्य व्यवहृत हज़ारों हिन्दी शब्दों की प्रकृति का ज्ञान पाठक प्राप्त कर सके और सरल तद्भव शब्दों के विकास-क्रम से भी वह परिचित हो जाय। व्याकरण-शास्त्र में व्युत्पत्ति का अधिक महत्त्व है, पर न जाने क्यों हिन्दी वैयाकरणों ने इस विषय की या तो उपेक्षा की या चर्चा मात्र कर छोड़ दिया। जिस देश में पाणिनि और यास्क की परम्परा हो, उस देश की राष्ट्रभाषा में लिखित व्याकरणों में व्युत्पत्ति-प्रकरण या निरुक्ति की ऐसी उपेक्षा! शब्द-सागर के किनारे बैठ कर लहरों के बहने का सुख भले मिल जाय पर गहरे पानी पैठे बिना रत्न नहीं मिलते। जब भाषाविज्ञान के ग्रंथ आये तब भी यह विषय प्रकाश न पा सका। न किसी ने जमकर हिन्दी तद्भवों पर विचार किया और न हिन्दी धातुओं का ही अनुशीलन आवश्यक समझा गया। हिन्दी का 'व्याकरण' नहीं, अँगरेजी ढर्रे पर 'ग्रामर' रच दिया गया। लेखक को यह उपेक्षा-भाव या दृष्टि-संकोच खलने लगा। ये तद्भव शब्द ही हिन्दी के अपने शब्द हैं-- इनके पूर्वज तत्समों का प्राचीन काल से विधिवत् अनुशीलन हो चुका है--किन्तु वर्त्तमान काल में उन तत्समों के वंशज तद्भवों के कुलशील का, रक्त-मांस-मज्जा और अस्थि का किसी ने ठीक से परिचय नहीं दिया। मध्ययुग के हेमचन्द की 'देसीनाममाला' की परम्परा भी न चल सकी। आधुनिक कोषकारों और वैयाकरणों ने भी इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया। अतः मेरे मन में इस कार्य की गुरुता का एक दिन बोध हुआ और अपनी अल्पज्ञता पर ध्यान दिये बिना इस विषय के अनुशीलन में, पहले केवल चिन्तन-मनन में, लग गया। हिन्दी में अनुशीलन करने को भी कम ही था—'हिन्दी निरुक्त' ही मेरे अध्ययनीय विषय से संगत और उपयोगी ग्रंथ था। मेरे मन में हुआ कि तद्भवों की रचना-प्रक्रिया और गठन के भेद को जान कर, शब्दों की प्रकृति पर स्वतंत्र चिन्तन-मनन और अनुशीलन कर, अपने विचारों को व्यवस्थित रूप में रखूँ—बस इसी रीति से अनुशीलन के क्रम में, पुस्तक की रूप-रेखा मन में अंकित होने लगी। यह कृति उसी चिन्तन-मनन का फल है। इन तद्भवों के विकास-क्रम को जानने के लिये हमने संस्कृत-पालि-प्राकृत और

अपभ्रंशरूपों का अवलम्ब भी ग्रहण किया तथा जहाँ मिल गया वहाँ अन्य विद्वानों के ज्ञान से भी लाभ उठाया। पर न तो मैं जायसी की तरह 'हौं पंडितन्ह केर पिछलगा' कहने की विनयपूर्ण स्थिति में हूँ और न मैं यह धृष्टवचन कहने का साहसी हूँ कि इसमें मौलिकता है। यह तो एक शब्द-सन्धानी का 'सन्धान' मात्र है, 'अनुसन्धान' कैसे कहूँ?

प्रकृति-प्रत्यय का व्याकरण (विश्लेषण) तथा हिन्दी धातुओं का रूप निश्चित किये बिना यह अनुशीलन ठीक से नहीं चलता, अतः मैंने 'हिन्दी धातुकोश' का कार्य भी 'तद्भवशास्त्र' के साथ ही हाथ में ले लिया। इस अनुशीलन-यज्ञ की पूर्णाहुति आज इस रूप में हो रही है कि मैं आज भाषा-तत्त्वज्ञों के सम्मुख यह कृति लेकर उपस्थित हो गया हूँ। यह भी जानता हूँ कि इसमें प्रतिपादित अनेक तथ्य पंक्तिबद्ध भाषाशास्त्रियों को विवाद्य और आलोच्य लग सकते हैं, परविचारजीवी विद्वानों को कुछ आक्षेप्य सामग्री भी मिल जायेगी, क्योंकि जो नवीन है वह प्रायः सुग्राह्य और सुपाच्य नहीं होता। जो पूर्वविचारों के संग्रह से अपने मस्तिष्क को इतना भर चुके हैं, उन्हें नये विचारों को स्थान देने के लिये वहाँ स्थान रिक्त करने में कठिनाई होती है। मैं मतभेद का स्वागत करता हूँ क्योंकि विद्या के क्षेत्र में मतभेद ज्ञान का साधक होता है—वादे वादे जायते तत्त्वबोधः। अनेक व्युत्पत्तियाँ कुछ विद्वानों को नवीन अतः अग्राह्य लग सकती हैं। लेखक जहाँ स्वयं शंकालु है, वहाँ उसने प्रश्नचिह्न देकर छोड़ दिया है। व्युत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है। यास्क ने कई प्रकार से 'निरुक्त' में अर्थ किया है और व्युत्पत्ति बताई है।

समुद्रमन्थन में देवासुर का संयुक्त बल लगा था, विवाद तो अमृत के लिये हुआ था, विष के लिये नहीं। आवश्यकता यह है कि सबके योग से शब्द-सागर का मन्थन हो, अमृत निकले, विष कहीं हाथ लग जाय तो हम स्वयं उसे पी लें, विष के लिये विवाद न करें। अपने मत के मंडन से भी दूसरे के मत का खंडन हो जाता है।

हिन्दी में यह अपने विषय की पहली व्यवस्थित कृति है, अतः इस अंग की पुष्टि में अन्य विद्वान् भी योग दें तो तद्भवशास्त्र को पूर्णरूप से विकसित होने में देर न लगेगी। 'हिन्दी का भाषाविज्ञान' हिन्दी के तत्त्वों के अनुशीलन से समृद्ध हो। यह तभी सम्भव है जब हिन्दी का 'वास्तविक' (आब्जेक्टिव) अनुशीलन हो तथा भाषा के अध्येताओं की वृद्धि हो। आज तो साहित्य-क्षेत्र में

बाढ़ आई है और भाषा की धारा क्षीण है, सिकताराशि में दबी गुप्तधारा को पुनः प्रकट होना है।

मैं उन सबका आभारी हूँ—इस कृति को जिनकी शुभाशंसा वा अभिशंसा मिली अथवा जिनके ज्ञान-कणों से इस कृतिकलश की रिक्तता दूर हुई। भूमिका-लेखक स्व० नलिनजी का आभार अब कैसे व्यक्त करूँ? क्रूर नियति ने आभार-स्वीकार के सौभाग्य से भी मुझे वंचित कर दिया। आज वे नहीं रहे और हम सब कहीं के नहीं रहे—केवल स्मृति-दंश रह गया है। यह भूमिका ही उनकी लिखी अन्तिम भूमिका है—अतः उनका यह स्मृति-चिह्न मेरे लिये महार्घ है।

हिन्दीविभागाध्यक्ष
राजेन्द्र कॉलेज, छपरा
दीपावली, १८८३ शाके

रा० श्रीवास्तव

संकेताक्षर

प्रा०—प्राकृत
वै०—वैदिक
दे०—देशी
अप०—अपभ्रंश
अमा०—अर्धमागधी
ऋ० वे०—ऋग्वेद
अप० व्या०—अपभ्रंश व्याकरण
पू० अप०—पूर्वी अपभ्रंश
द० अ०—दक्षिणी अपभ्रंश
पदपू—पश्चिमी, दक्षिणी पूर्वी अपभ्रंश

पै०—पैशाची
पुं०—पुंल्लिंग
पद अप—पश्चिमी, दक्षिणी अपभ्रंश
अ० प्रा०—अपभ्रंश प्राकृत
वैक०—वैकल्पिक
श० सा०—शब्दसागर
मेदिनी—मेदिनीकोश
अवे०—अवेस्ता
पा०—पालि
?—संदेह
√—धातुचिह्न

भारत की प्राचीन प्रकृत भाषा

प्राचीनकाल में आर्यों की भाषा का क्या रूप था, इसे जानने के लिये वेदों की भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। आर्य जाति की प्राचीनतम रचना वेद ही है और इनके आधार पर ही हमें उस काल की भाषा, साहित्य संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान का परिचय होता है। प्राचीन काल में ही ऋक् यजुः साम इन तीनों को एक पृथक् वर्ग में रखा गया और अथर्व वेद को कुछ विद्वानों के अनुसार, कुछ काल बाद समकक्ष महत्त्व मिला। पाश्चात्य भाषाशास्त्री वेदज्ञों के अनुसार ऋक् ही प्राचीनतम वेद है और अन्य वेद कुछ बाद के हैं। ऋग्वेद की भाषा को सबसे प्राचीन और अन्य वेदों की भाषा का परवर्त्ती काल की भाषा बताना, यह मत सबको स्वीकार्य नहीं है। वेदमंत्रों के ऋषि अनेक हैं, उनमें न तो सब एक ही स्थान के थे और न एक ही काल के। वे भिन्न-भिन्न कुलों के थे। कुछ स्त्रियाँ भी मंत्रद्रष्टा हुई हैं। जिस प्रकार आज भाषा में स्थानीय भेद होते हैं, उसी प्रकार देशभेद से भाषाभेद उस समय भी होते होंगे। देश-काल-पात्र भेद से भाषाभेद स्वाभाविक है। यह भाषा-विषयक नियम उस समय भी लागू होगा। पर ऐसे थोड़े भेद के कारण हम किसी भाषा को दूसरा नाम नहीं दे डालते। अतः यदि ऋग्वेद और अन्य वेदों की भाषा में कुछ भेद दीखता है तो इससे हम भिन्न-भिन्न वेदों की भाषा को भिन्न नाम नहीं देते। ऐसी भिन्नता किसी भी भाषा में दिखाई पड़ती है। जनभाषा और साहित्यभाषामें कुछ अन्तर रहता ही है। प्रत्येक भाषा में कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो साहित्यभाषा में भी कुछ स्थानीय प्रयोग चला देते हैं। आज कल भी हम देखते हैं कि कुछ लेखक हिन्दी में तद्भव रूपों को अधिक ग्रहण करते है और कुछ तत्सम रूपों को। जायसी और तुलसी दोनों की भाषा अवधी है, पर जायसी की भाषा अधिक तद्भवमुखी है और तुलसी सांस्कृतिक और धार्मिक वातावरण के कारण या स्वयं संस्कृत के पंडित होने के कारण तत्सम रूपों का अधिक प्रयोग करते हैं। अतः वेदों में कुछ शब्दों के भिन्न रूपों को अथवा रूपान्तरों को देख कर उन्हें अन्य भाषा के शब्द कह देना ठीक नहीं। हम वैदिक भाषा को आर्यभाषा का प्राचीन साहित्यिक या शिष्टरूप मानते हैं। शब्दों के अनेक रूप केवल इस बात के प्रमाण हैं कि तत्कालीन जनभाषा में अन्य रूप भी प्रचलित थे। उन्हें वैदिक प्राकृत केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वे रूप जनभाषा में चलते थे। भाषा के अर्थ

में प्राकृत शब्द वेदभाषा के बहुत बाद में प्रयोग में आया। इसलिए वैदिक प्राकृत का प्रयोग वांछनीय नहीं है और भ्रामक भी हो सकता है। वेदभाषा एक साहित्यिक भाषा है, जिसमें कभी-कभी आज की शब्दावली में कुछ आंचलिक या जनपदी रूप भी मिल जाते हैं। केवल शब्दों के कुछ वैकल्पिक रूपों के आजाने से ही किसी पृथक् और स्वतंत्र भाषा की सत्ता की कल्पना अवैज्ञानिक है। केवल कुछ संज्ञाओं के आजाने से भाषा भिन्न नहीं हो जाती। जबतक धातु, प्रत्यय, सर्वनाम, अव्यय आदि सब कुछ बहुत भिन्न न हों तब तक भाषा भिन्न नहीं होती। खड़ी बोली को हिन्दी नाम देकर भारतीय राष्ट्र ने राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण कर लिया है, पर यदि उस राष्ट्रभाषा को साहित्यभाषा मान कर कोई पूर्निया जिले का लेखक अपने अंचल के कुछ शब्दों का प्रयोग कर दे तो क्या उस भाषा को हम हिन्दी नहीं कहेंगे ? पूर्निया की भाषा व्याकरण और भाषाशास्त्र की दृष्टि से राष्ट्रभाषा या उसके जनभाषा रूप (खड़ी बोली) से भिन्न है। अत: मेरा मत है कि वैदिकभाषा से इतना ही ज्ञात होता है कि कुछ शब्दों के अन्य रूपों का भी उसकाल में प्रयोग था। अत: उनके ही साक्ष्य के बल पर पृथक् रूप से एक भिन्न वैदिक प्राकृत की सत्ता को मानना उचित नहीं। किसी शब्द के विविध रूपों में से किसी एक रूप विशेष को ही सर्वमान्यता या सर्वाधिक प्रयोग के कारण साहित्य में ग्रहण किया गया, अन्य रूपों को स्थानिक या ग्राम्य समझ कर प्राय: ग्रहण नहीं किया गया। किन्तु कुछ ऋषियों ने उनका भी प्रयोग कर दिया है। इन प्रयोगों से हमें मात्र यह ज्ञात होता है कि किसी शब्द का स्थानीय या असंस्कृत रूप क्या था। संस्कार किये गये रूप (संस्कृतरूप) तो प्राचीन साहित्यिक भाषा या आर्य भाषा (ऋषियों की भाषा) में चलते ही थे। किन्तु कुछ ऐसे रूप भी चलते थे जो सामान्य संस्कृत भाषा में सर्वस्वीकृत नहीं थे। वे रूप जनभाषा में प्रचलित थे। यदि प्राकृत भाषा का प्रयोग जन भाषा के लिये किया जाय तो हम उस काल की जनभाषा को वैदिक प्राकृत कह भी सकते हैं। पर यह प्राकृत शब्द का मूल अर्थ नहीं हैं। प्राकृत शब्द प्रकृति से बनता है। प्रकृति रूप में जो शब्द प्रचलित थे उन्हीं का शिष्ट जनों द्वारा प्रयोग के पूर्व संस्कार किया गया तथा उनके संस्कृत रूप को ही साहित्य में स्वीकृत किया गया। 'प्रकृत' शब्द को ही संस्कृत किया गया। मेरे विचार में शब्दों के दो रूप हैं एक प्रकृत रूप और दूसरा संस्कृत रूप। केवल रूप दो हैं—शब्व एक ही है। इसलिए प्रकृत या असंस्कृत रूप को पृथक् भाषा का रूप मानना उचित नहीं। संस्कृत रूप को ही मानक या परिनिष्ठित मान कर साहित्य में ग्रहण किया

गया। ऐसे ही संस्कार के बाद प्राचीन आर्यों की प्रकृत भाषा को संस्कृत नाम से अभिहित किया गया।

भारतीय वैयाकरणों ने 'प्राकृत' का क्या अर्थ माना है, इस प्रसंग में यह विचारणीय है। हेमचन्द्र के अनुसार प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवं तत्र आगतं वा प्राकृतम् १–१० प्रकृति ही संस्कृत है। उससे उत्पन्न या आया हुआ प्राकृत। मार्कण्डेय का भी ऐसा ही मत है। प्रकृति: संस्कृतं। तत्र भवंप्राकृतमुच्यते। अर्थात् वे भी प्रकृति: और संस्कृत में भेद नहीं मानते। प्रकृति: संस्कृतं यह दोनों का ही मत है। प्रकृतिरागतं प्राकृतं प्रकृति: संस्कृतम्। धनिक दशरूपक वृत्ति (२-६०) प्रकृति से आई या निकली हुई भाषा प्राकृतचंद्रिका में भी बताया गया है प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् वासुदेवकृत कर्पूरमञ्जरी टीका में लेखक का विचार है, प्रकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनि:। इन प्राकृत के पंडितों के विचार में प्राकृत भाषा प्रकृति से बनी है। वे संस्कृत को ही प्रकृति कहते हैं, दोनों में भेद नहीं मानते। प्राकृत शब्द ही यह सूचित करता है कि वह मूल भाषा नहीं, प्रकृति से निकली (प्रकृते: आगत) भाषा है।

अत: मेरे मत में वेदभाषा उसकाल की प्रकृत भाषा का संस्कृत रूप है। भाषा का उपादान (कच्चामाल) प्रकृति से ही प्राप्त होता है। मनुष्य ही उसे भाषा का रूप देता है। भाषा का उपादान नाद या स्फोट है, जो भाषा में अक्षरतत्त्व है, अन्य विकास या परिवर्त्तन मनुष्यकृत है अत: उपादान की दृष्टि से भाषा प्रकृति की देन है। पर उसके परिवर्त्तन या विकास में निमित्त कारण मनुष्य ही है। देशकालपात्रभेद से भाषा में भेद होता जाता है तथा अधिक भेद हो जाने पर ही भाषा का नाम भी बदल जाता है।

वैदिक भाषा के अध्येता यह बतलाते हैं कि वेदों में ही इसके प्रमाण मिल जाते हैं कि शब्दों के वैभाषिक भेद वर्त्तमान थे। वैभाषिक का अर्थ वैकल्पिक रूप ही है। विभाषा का प्रयोग विकल्प के अर्थ में पाणिनि ने भी किया है। वैभाषिक भेद का अर्थ है–विकल्प से भाषा (बोलचाल में चलने वाले अन्य रूप)।

यह वैभाषिक प्रवृत्ति स्पष्टत: इन शब्दों में देखी जा सकती है।

१. विकृट, निकट, दण्ड, अण्ड्—वैदिक रूप

२. विकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र—विभाषा

१. पठ् घट् क्षुल्ल

२. प्रथग्रथ क्षुद्र (क्षुद्‌ल) *

इनमें दूसरे रूप को प्राकृत या देश्य माना गया है वस्तुतः इन्हें प्राकृत कहना कैसे ठीक है। त का विकल्प से ट, थ का ठ यह सब एक ही भाषा के अवान्तर भेद मात्र है। इनमें यह कहा जा सकता कि विकृत से विकट, निकृत से निकट निकला है या विकट से विकृत और निकट से निकृत। हो सकता है कि देश भेद से ही उच्चारण भेद होने से त का या ट का त हुआ हो। हिन्दी में काली, कारी, नाली, नारी को क्या हम दो विन्न भाषाओं के शब्द मानते हैं। ल वाला रूप संस्कृत (शिष्ट) है और र वाला रूप (असंस्कृत), यह हम इस लिये कहते हैं चूंकि साहित्यभाषा हिन्दी ने ल वाले रूप को ग्रहण किया है। नहीं तो ब्रजभाषा में कारी, कारो शिष्ट प्रयोग है। पिया बिनु कारी लागि रात (सूर)। एक ही भाषा में किसी शब्द के रूप साथ-साथ चलते हैं और ऐसे रूपभेद के कारण अन्य रूपों को दूसरी भाषा के शब्द नहीं माना जाता। अतः मेरा मत है कि प्राचीन आर्यावर्त्त के किसी भागविशेष में बसे हुये आर्यों की किसी प्रकृत भाषा या जनभाषा के संस्कृत रूप में वेदमंत्रों की रचना हुई थी। डा० चटर्जी क मत यह है कि भेदभाषा के अनुशीलन से उनके तीन भेद (स्थानीय रूप) माने जा सकते हैं— उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य उनके इस मत में कितना बल या तथ्य है, इसका विचार करने का यह स्थान नहीं है। किन्तु मुझे भी यही प्रतीत होता है कि वेद भाषा आर्यावर्त्त के उदीच्य स्थित सारस्वत प्रदेश की या उसके परिसर की भाषा का ही संस्कृत रूप है। यह प्रश्न आर्यों के मूलस्थान से सम्बन्ध रहता है। प्राचीन आर्यों का आदि देश कहाँ था, यह प्रश्न विद्वानों के बीच विवाद का विषय बन गया है। लेखक का विश्वास है कि इस प्रश्न का सही उत्तर भी हमें अपने पुराण साहित्य के अनुशीलन और मन्थन से ही प्राप्त हो सकता है। मेरे विचार में यह स्थान मानसरोवर के दक्षिण में, पंचनद प्रदेश और ब्रह्मावर्त्त के बीच में ही स्थित

---

१ डा० सु० कु० चाटुर्ज्या भा० आ० हि० पृ० ६२

* आर्यों के उद्‌गम और उनके मूलस्थान के विषय में लेखक अन्य किसी पुस्तक में विचार करना चाहता है।

था। [1]'इस स्थान को आर्यावर्त' का उदीच्य भाग कहा जा सकता है।

वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में प्रमुख भेद

विद्वानों ने वैदिक भाषा और परवर्त्ती संस्कृत के प्रमुख भेदों की चर्चा की है। सुप्तिङ् के कुछ रूप वेदों में मिलते हैं, जो बाद में लौकिक संस्कृत में ग्रहण नहीं किये गये। यथा,

ऋग्वेद	लौकिक संस्कृत
मर्त्यासः मर्त्याः	मर्त्याः
देवासः देवाः	देवाः
अग्ना, अग्नौ	अग्नौ
पूर्वेभिः पूर्वैः	पूर्वैः
देवेभिः देवैः	देवैः
इमासं, इमः	इमः
स्मसि स्मः	स्मः
यातन, यात	यात
शये,	शेते
ईशे,ईशते ईष्टे	ईष्टे
श्रु ति शुणुधि, शुणुहि, शुणु	शुनु[2]

क्या ये भेद वैदिक और लौकिक संस्कृत को दो भाषायें मानने के लिये यथेष्ट प्रमाण हैं? ऋग्वैदिक भाषा के वैकल्पिक रूपों में अन्तिम रूप ही बाद के युग में लौकिक संस्कृत में ग्रहीत हुये। हिन्दी में १९ वीं सदी के कुछ लेखकों ने खड़ी बोलीं में उन्का, इन्का, रक्खा, चक्खा आदि रूपों का प्रयाग किया है पर अब उनका, इनका रखा, चखा लिखा आदि लिखा जाता है तब क्या हम उन प्राचीन रूपों को देखकर खड़ी बोली से पृथक् भाषा की कल्पना

[1] "ऋग्वेद संहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ-तहाँ बोली भेद है। प्रथम मंडल और दशम मंडलों के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ बाद की है। ब्राह्मण ग्रंथों, प्राचीन उपनिषदो और सूत्रग्रंथों की भाषा क्रमशः विकसित हुई जान पड़ती है। (सकसेना सामान्य भाषा विज्ञान पृ० २४४)

[2] डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा संकलित पृ० ९५

करते हैं ? वैदिक और लौकिक संस्कृत ये दो भेद एक ही भाषा के है। कालान्तर से भाषाभेद होता है। हो सकता है कि वैकल्पिक रूप वैदिक काल के स्थानीय भेदों के कारण हो। वर्त्तमान काल में एक ही शब्द पंजाब, उ० प्र० बिहार, राजस्थान में उच्चारणभेद से या न्यून भेद के कारण कई रूपों में दिखाई देता है। कहै, कहे, कहा चाहता हूँ, आदि पुराने रूप हमें उर्दू के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पर उन पुराने प्रयोगों के कारण हम भाषा का भेद नहीं करते हैं। आज भी हिन्दी में बोलचाल में उनने जिनने बोलते हैं जब कि पुस्तक में 'उन्होंने' 'जिन्होंने' को ही स्थान देते हैं। मेरी समझ में वैदिक और लौकिक संस्कृत में कुछ भिन्न प्रयोगों को भेददृष्टि रखने वाले भाषाविदों ने अत्यधिक महत्व दिया है। इस उदीच्य भाषा को ही वेदों में परिनिष्ठित भाषा के रूप में ग्रहण किया गया और इसी को पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण में शास्त्रीय आधार बनाया था।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चतुर्वेद, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रंथ आते हैं। इस साहित्य का रचना-काल काफी लंबा रहा होगा। बहुत काल तक गुरु-शिष्य-परम्परा से श्रुतियों के वाङ्मय का प्रचार हुआ और बाद में उसे लिपिबद्ध किया गया। यहाँ पर श्रुति और स्मृति शब्द पर विचार करना आवश्यक है। मेरे विचार में गुरुमुख से श्रवण कर (श्रुति द्वारा) जो वैदिक वाङ्मय सुरक्षित रखा गया, उसे ही 'श्रुति' नाम मिला। इस श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी तो स्मरण द्वारा ही रक्षित किया जाता था। तब स्मृति' नाम से अभिहित वाङ्मय को किस प्रकार रक्षित किया गया ? 'स्मृति' वाङ्मय समाज की व्यवस्था, रीति-नीति विधि-निषेध से सम्बन्ध रखनेवाला वाङ्मय था। इसे भी कंठस्थ कर या स्मरण (स्मृति) द्वारा ही रक्षित किया गया। पर मुझे लगता है कि यह साहित्य लिखित रूप में भी उपलब्ध था और इसे ग्रंथों से पढ़ कर भी कंठस्थ किया जाता था। 'श्रुति को गुरुमुख से श्रुति द्वारा प्राप्त करने का विधान था—'स्मृति' के लिये यह अनिवार्य नहीं था। स्मृति को हम पाठ्य ग्रंथ और श्रुति को श्रव्य के रूप में समझ सकते है। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण तथा गूढ रहस्य के ज्ञान के लिये मंत्रद्रष्टा ऋषियों की गुरुपरम्परा आवश्यक थी और श्रुतियों के ज्ञान के लिये गुरु से शिक्षा और दीक्षा भी अपेक्षित थी।

*पर स्मृतियों का शास्त्रों की भाँति अध्ययन करना पर्याप्त समझा जाता था। चूंकि बहुकाल तक वेदों की गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त करने की परम्परा ठीक से चलती रही, इसीलिये उनका ग्रंथ रूप में सम्पादन महाभारत काल तक करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया। महाभारत के प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास ने कदाचित् सम्पूर्ण वेदों का विधिवत सम्पादन (व्यास) किया, अत: वे वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुये। मेरे विचार में महाभारत काल के पूर्व ही सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उपलब्ध था और वेदव्यास तथा श्रीकृष्ण दोनां ही ऐतिहासिक महापुरुष थे। महाभारत का युद्ध प्राचीन भारत की सब से बड़ी ऐतिहासिक घटना है और इसके बाद भारतीय जीवन में इतना बड़ा परिवर्त्तन हुआ कि इसके साथ ही एक नये युग का आरम्भ माना जाता है। महाभारत के पूर्व भारतीय जीवन का प्राय: उस प्रकार का धार्मिक और सामाजिक रूप था जैसी रूपरेखा वैदिक ऋषियों ने बनाई थी। हमारा धर्म यज्ञप्रधान था और वर्णाश्रम की व्यवस्था के अनुसार समाज चल रहा था। इसमें कुछ अपवाद कहीं-कहीं भले दीख पड़े, पर वैदिक वाङ्मय और संस्कृति का प्रभाव आर्यों के जातीय जीवन पर प्रबल रूप से पड़ा हुआ था, इसमें शंका नहीं की जा सकती।

महाभारत युद्ध की तिथि जो पुराणों में दी हुई है और जिसे अविश्वसनीय मानने का कोई प्रबल कारण नहीं है वह हमारे प्राचीन सांस्कृतिक जीवन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण सीमारेखा (डिमार्केशन लाइन) है। इस युद्ध ने इस चिरकाल से समगति से बढ़ते हुये समाज के जीवन को विषम कर

---

* वेदपाठ की रक्षा के हेतु अनेक उपाय निकाले गये। पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि ऐसे ही उपाय हैं। ऋषियों के चरण, परिषद् और शाखाओं का संगठन किया गया और बहुसंख्यक ब्राह्मणों ने वैदिक वाङ्मय की रक्षा के लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हुये अपना सम्पूर्ण जीवन स्वाध्याय में लगा दिया। इस श्रम और साधना का ही फल है कि आज भी वेदों का पाठ मूल रूप में प्राप्त है और उसमें मिश्रण नहीं हो सका। विश्व की किसी जाति ने अपने प्राचीन धार्मिक वाङ्मय की सुरक्षा के लिये इतना श्रम और त्याग नहीं किया। पदपाठ के लिये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, संहिता (सन्धि) समास आदि पर विचार द्वारा व्याकरण और भाषाशास्त्र का आरम्भ बुद्धदेव से सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था। यास्क के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनके पूर्व ही इन विषयों की वैज्ञानिक विवेचना हो चुकी थी।

दिया, अनेक देशों के सम्पर्क, आदान-प्रदान से आर्यावर्त्त का सामाजिक जीवन क्षुब्ध और उद्वेलित हो गया। यज्ञप्रधान वैदिक धर्म और उसके ब्रह्मवाद को भी नये अवतारवादी भक्तिप्रधान भागवत धर्म का रूप लेना पड़ा। श्री कृष्ण का भगवान के रूप में स्वीकार वैदिक देवराज इन्द्र की अवमानना और शरणागतिमूलक भक्तिप्रधान उपासना मार्ग का उदय उस नये परिवर्त्तन का संकेत कर रहे थे। श्री कृष्ण इस नवीन जागरण या धार्मिक क्रान्ति के उद्-घोषक और नायक थे और 'कृष्ण' द्वैपायन व्यास—इसके विचार-प्रचारक और व्याख्याता। भागवत धर्म के उदय के बाद व्यास को पुराणों को भी नवरूप देना पड़ा।

भाषा के विकास की दृष्टि से वैदिक भाषा का जो रूप आज प्राप्त है वह बहुत पुराना है। कितना पुराना है यह जानना कठिन है। जबतक वेदों का रचनाकाल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता तबतक भाषा का आरम्भकाल भी बताना कठिन है। जब भी वेदों की रचना हुई, उससे लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व से तो अवश्य ही वह भाषा समृद्ध अवस्था में रही होगी। वेदभाषा जिस व्यवस्थित, विकास और पुष्ट भाषा के रूप में मिलती है, उसे देखकर उसका आरम्भ बहुत पहले हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं रह जा सकता। जिस प्रकार का उच्च ज्ञान प्रकृति के तत्त्वों का, ज्योतिष का, ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण शाखाओं का वेदों में उपलब्ध है, उसे देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि जब भी वेदमंत्रों की रचना हुई उससे कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व भी संस्कृत भाषा का अस्तित्व रहा होगा।

वैदिक भाषा में अनेक विद्वान् कुछ शब्दों को विदेशी भाषा के शब्द बताते हैं, क्योंकि ये यूरोप के किसी भाग की बाद की प्राचीन भाषा में भी किंचित् विकृत या परिवर्त्तित रूप में मिलते हैं। संसार में ऐसी कोई आर्यभाषा नहीं है जो वेदभाषा की समकालीन हो, फिर चाहे कोई शब्द लिथुआनिया, आस्ट्रिया, बैबिलोनिया या मिसर के किसी प्राचीन शब्द के निकट दिखाई पड़ता है, तो हम उन शब्दों को वेद में प्रयुक्त विदेशी शब्द क्यों मान लें। आदान और प्रदान दोनों में जब समान है, तब प्राचीन भाषा से बाद की भाषा में शब्द का जाना ही अधिक मान्य है। अतः कोई शब्द संस्कृत में विदेश से आया है या विदेश में संस्कृत से गया है, इसका निर्णय तो तभी हो सकता है जब आदाता और प्रदाता दोनों भाषाओं का काल सुनिश्चित हो। अतः वेदों में प्रयुक्त शब्दों में कौन अनार्य मूल के हैं और कौन नहीं, यह बहुत विचार-विवेक के बाद

ही बतलाया जा सकता है। भाषाशास्त्री विद्वानों ने वेदों में से खोज कर ऐसे शब्द दिये हैं जो प्राचीन विदेशी भाषाओं में किंचित् परिवर्त्तित या विकृत रूप में मिलते हैं और कुछ ऐसे शब्दों की सूची भी दी हैं जिन्हें वे इसी देश की अनार्य (द्रविड या वनवासी जातियों की) भाषाओं का शब्द मानते हैं। इन शब्दों पर पूर्ण विचार करना आवश्यक है और तभी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे शब्द दूसरी भाषाओं के हैं और वे भाषायें उस समय इस स्थिति में थीं कि उनका प्रभाव भारत के उदीच्य भाग की संस्कृत भाषा पर पड़ सके।

पाणिनि और यास्क प्राचीन भारत के महान वैयाकरण और शब्दशास्त्री हैं। इनके पूर्व का रचा हुआ कोई भाषाविषयक ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं है और इनके ग्रन्थों में उल्लिखित वैयाकरणों तथा नैरुक्तकों की कृतियाँ अब लुप्त हो गई हैं। पाणिनि और यास्क के ग्रन्थों में केवल उनका उल्लेख है। उन लोगों ने प्राकृत नाम की किसी भाषा का उल्लेख नहीं किया है। पाणिनि ने विभाषा शब्द का प्रयोग किया है तथा इस शब्द से वैकल्पिक रूप का ही अभिप्राय है। यदि किसी अन्य भाषा का अभिप्राय अभीष्ट था और उसका कोई नाम प्रचलित था तो वे उसका उल्लेख कर सकते थे। पाणिनि ने भाषा का प्रयोग संस्कृत के लिये ही किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि जिस भाषा का वे व्याकरण बना रहे थे वह भाषा व्यवहार की भाषा थी। जिन नियमों की व्याप्ति केवल वेद भाषा में थी उसकी इस विशेषता का वे स्पष्टतः उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे वेदभाषा और तत्कालीन व्यवहार की भाषा में कुछ अन्तर अनुभव करने लगे थे और यह अन्तर लगभग वैसा ही है जैसे हम ओल्ड इंगलिश और इंगलिश में करते हैं। इति वेदे से उनका अभिप्राय यह है कि कोई नियम विशेष केवल वेदभाषा में मिलता है। जान पड़ता है कि उस समय तक वेदभाषा के कई नियम उस काल की व्यवहार में आनेवाली संस्कृत भाषा में नहीं चलते थे। पर पाणिनि ने संस्कृत से भिन्न किसी जनभाषा (प्राकृत नामधारी भाषा) के नियमों का उल्लेख नहीं किया इससे हम यह अनुमान कर सकते है कि उस काल तक प्राकृत भाषाओं का स्वतंत्र रूप से उदय नहीं हुआ था।

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थकारों का कालनिर्णय अत्यन्त विवाद का विषय बन गया है। एक ओर पश्चिम के संस्कृतज्ञ प्राचीन ग्रन्थकारों को यथासंभव बाद का सिद्ध करने में अपनी समझ तथा अनुमान को खुल खेलने के लिये छोड़ देते हैं, दूसरी ओर प्राचीन पद्धति का पंडित वर्ग ऐतिहासिकता और काल क्रम

पर निष्पक्ष हो कर विचार ही नहीं करता। भारतीय आधुनिक संस्कृतज्ञों के लिये भी पश्चिमी विद्वानों के तथा कथित अनुसन्धान और वाग्जाल से मुक्त होना प्राय: कठिन हो गया है। वे अपने देश के परम्परा-समस्त इतिहास को पूर्ण रूप से निराधार और काल्पनिक मान कर तिरस्कृत करते हैं। यहाँ तक कि वे सनातन या वैदिक परम्परा के साक्ष्य से अधिक बौद्ध और जैन प्रमाणों को महत्त्व देने लगते हैं; जब कि यह हम जानते हैं कि बौद्ध और जैन पुराण हिन्दू पुराणों से कल्पना-जाल बुनने में कम कुशल नहीं हैं। पाणिनि और यास्क आदि मुनियों और शास्त्रकारों का काल क्या था, इस प्रश्न के उत्तर पर बहुत कुछ अवलम्बित है। *प्राचीन भारत के उस प्राचीन युग के सम्बन्ध में अन्य देशीय इतिहास भी प्राय: मौन हैं। बुद्ध के पूर्व का इतिहास चीन के अतिरिक्त किसी अन्य बौद्ध देश को प्राप्त नहीं है। पश्चिम के एशियाई देशों में संस्कृति और सभ्यता केवल बैबिलोनिया (बाबुल) असीरिया और एशिया माइनर के कुछ देशों में प्राचीन काल में थी। इनके अतिरिक्त नीलघाटी में मिस्र देश, क्रीट द्वीप यवन देश आदि का उल्लेख किया जा सकता है। जिन देशों की सभ्यता पाँच हजार पूर्व से अधिक की बताई जाती है उनकी भाषायें सहस्रों वर्ष पूर्व ही मर चुकी थी और उनकी लिपियाँ विस्मृत हो गई थीं। केवल यूनान (यवनान या यवन देश) का साहित्य, जो लगभल तीन हजारवर्ष पूर्व रचा गया था अब भी विद्यमान है। मिस्र, बाबुल, असीरिया आदि की लिपियाँ पुरातत्त्वज्ञों और भाषा शास्त्रियों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप १९ वीं शती के उत्तरार्ध के बाद पढ़ी गईं और उन देशों की प्राचीन भाषा केवल प्राचीन भग्नावशेषों में अंकित प्राप्त हुई है। मोहन-ज-दड़ो की लिपि तो अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी। प्राचीन भाषाओं में केवल ईरान की अवेस्ता भाषा का ज्ञान पारसी धर्म की गाथाओं से मिलता है। यह अवेस्ता भाषा वेदभाषा से बहुत समानता रखती और उसे हम उसी का एक किंचित् परिवर्त्तित या विकृत रूप कह सकते हैं। ऐसा लगता है कि वेद के अनेक मंत्र ही, उच्चारणभेद और देशभेद से ईरानी गाथाओं में विद्यमान हैं। यदि हम अवेस्ता की भाषा को वेदभाषा का पारसी या ईरानी प्राकृत कहें तो आपत्ति न होनी चाहिये। हम अवेस्ता की उन गाथाओं को कति-

* पाणिनि का काल—पश्चिमी विद्वान् ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी मानते हैं डा० वासुदेवशरण उसे ई० पूर्व सातवीं शताब्दी कहते हैं। सत्यव्रत जी पाणिनि का काल २४०० ई० पू० मानते हैं। यास्क मुनि का काल ई० पूर्व ८००-७०० माना जाता है।

पद्य वेदमंत्रों का प्राचीन ईरानी रूपान्तर भी कह सकते हैं। * उनकी प्राचीनता का यदि हम इतिहास की दृष्टि से निश्चय कर पाते तो ईरानी सत्य के आधार पर भी कुछ वेदमंत्रो का कालनिर्णय करने में विश्वसनीय प्रमाण पा जाते। पर पारसी पंडितो की परम्परा को भी विदेशी विद्वान् मानने के पक्ष में नहीं। प्राचीन सभ्य देशों के इतिहास से भी आर्यावर्त्त के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं होता। कुछ शब्दों के सादृश्य मात्र के आधार पर या भाषाशास्त्रियों के प्राचीन भाषाओं के उस ज्ञान के आधार पर (जिसकी अत्यल्प सामग्री प्राप्त है) निश्चय-पूर्वक कोई स्थापना करना भ्रामक भी हो सकता है। आर्यकुल की भाषाओं के प्राचीन साहित्य और इतिहास से इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश आने की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से प्राचान ईरानी और यूनानी भाषाओं में ही सम्भावना अधिक है। अन्य संस्कृतियों पर (जैसे मिस्र, बाबुल असीरिया और सभी (ईरानी भाषी देश) आर्य प्रभाव बहुत कम मात्रामें पड़ा होगा, क्योंकि उन भाषाओं से आर्यभाषायें बहुत भिन्न हैं। पर गाथा-ईरानी और प्राचीन यूनानी भाषायें तो आर्यकुल की हैं और संस्कृत से अनेक दृष्टियों से सादृश्य या मेल रखती हैं। होमर के पूर्व की यूनानी भाषा का हमें ज्ञान नहीं है। होमर-काल ७००-१००० ई० पूर्व के बीच बताया जाता है। पंतजलि 'यवनानी' (लिपि के लिये) शब्द देते है। पर पाणिनि के सूत्रों पर महाभाष्य कितने दिनों के बाद रचा गया, यह नहीं कहा जा सकता। इस देश के प्राचीन

---

* सं० यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः

अव-यो यथा पु० थ्रम तउरुनम् हओनम् वन्दएता मश्यो।

सं० प्र आभ्यं स्तनूभ्यः सीं मो विशते [illegible]जाय।

अव-फ्रा आव्यों तिनुव्यों हओयो वी [illegible]ते यएशजाइ।

डा० वटकृष्ण घोष द्वारा अनुवादित (यस्ना १०८) का रूपान्तर (डा० सकसेना द्वारा उद्धधृत)।

अव० आ अइयर्अमा इश्यो रफद्राइ जन्तू
नर् अव्य श्चा न इरि व्यश्च जर थुस्त्रा हे।
वङ् ह् अउश् रफ़ द्राइ मनङ् हो (यस्न ५/४)

स० आअर्यमा इष्यः रब्धुं गच्छतु (* गन्तु)
नृभ्यचश्च नारीभ्य श्यं जरथु त्रस्य
वर्ष्मणः रब्धुं मनसः

जीवन के सम्बन्ध में ई० पूर्व के एक हजार वर्ष का कुछ लिखा हुआ किसी अन्यदेश में नहीं मिलता। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उन देशों का उस समय का साहित्य नष्ट हो गया अथवा उन लोगों को भारत की स्थिति का पर्याप्त ज्ञान न था। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में बाहर के देशों का कुछ परिचय मिलता है।

प्राकृत भाषा का उदय

पाणिनि ने प्राकृत शब्द का प्रयोग नहीं किया है। संस्कृत ही 'भाषा' है उनके काल में। भाषा उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिस अर्थ में हम 'बोली' (या 'बोल चाल की भाषा') का प्रयोग करते है। "बोल चाल की भाषा" ही को तो बोलो कहते हैं। सभी भाषायें बाली जाती हैं। आज कई ऐसी भाषायें है जो ग्रंथभाषा के रूप में जीवित हैं पर अवश्य ही वे किसी समय किली प्रदेश में बोली जाती होंगी। भाषा और बोली में भेद करना व्यर्थ का पाण्डित्य प्रदर्शन करना है। बोली हिन्दी का शब्द है और भाषा संस्कृत का। (भाष् से भाषा, भाषण आदि) अंग्रेजी के लैंगवेज और डाइलेक्ट के लिये दो शब्दों की अदि आवश्यकता पड़ी तो भाषा और बोली शब्द को चला दिया गया और यह भाषाविषयक पुस्तकों में काफी चल गया है। पर डाइलैक्ट के लिये संस्कृत शब्द विभाषा (या उपभाषा) ही चल सकता है। पाणिनि ने विभाषा का प्रयोग प्राय: वैकल्पिक रूपों के लिये किया।

प्राचीन काल में संस्कृत शिष्ट और शिक्षित आर्यों के बीच व्यवहार की भाषा थी। पर धीरे-धीरे आर्यों का प्रसार होने लगा और उनका सम्पर्क इस देश के आर्येतर जनों पर पड़ा। व्याकरण के नियमों से बद्ध और कठोरता से शुद्ध उच्चारण की रक्षा करने वाले आर्यों ने इसे व्याकरण के सूत्रों से बद्ध कर संस्कृत की पवित्रता या शुद्धता की रक्षा का प्रबल प्रयत्न किया, पर संस्कृत का ज्यों-ज्यों क्षेत्र बढ़ता गया और और वह विस्तृत भूभाग में बोली जाने लगी त्यों-त्यों समाज के अल्पशिक्षित या अशिक्षित समुदाय द्वारा उसमें विकार आने लगा। प्रकृति से वह दूर पड़ती गई यद्यपि वह रूप भी प्रकृति से उद्‌भूत या आगत ही था। प्रकृति भाषा को संस्कार द्वारा संस्कृत कर लिया गया था, पर जब ब्राह्मणेतर या द्विजेतर

लोगों की संख्या बढ़ने लगी और शुद्ध आर्यों का सम्पर्क इस देश के आर्येतर जनों से घनिष्ट होता गया तब प्रकृत रूपों से ही प्राकृत का उद्भव, विकास या निकास हुआ। यह घटना कब घटी, इस सम्बन्ध में निश्चय रूप से कहना तो कठिन है, पर हमें ऐसा लगता है कि भारतीय प्राकृतों का आरम्भ भी उसी काल में होने लगा होगा जब आवेस्तिक भाषा (ईरानी वैदिक प्राकृत) का आरम्भ काल है।* इस देश में भी उस काल में प्राकृतों की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु अब तक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। बुद्धपूर्व के शिलालेख, ताम्रपत्र आदि जब तक प्राप्त नहीं होते तब तक प्राक्-बुद्ध प्राकृत का केवल अनुमान किया जा सकता है।

संस्कृत-भिन्न किसी अन्य भाषा का कोई प्रमाण अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। अतः क्या हम उनकी सत्ता की भी अनुमान नहीं कर सकते! स्वरूप का अज्ञान सत्ता के निषेध का प्रमाण नहीं है। बुद्ध के पूर्व की किसी लोकभाषा के स्वरूप का ठीक ज्ञान हमें नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि महावीर तीर्थंकर और बुद्धदेव दोनों ने ही अपने उपदेशों का प्रचार लोकभाषा में किया था और यह इसे प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि उस समय तक उन धर्मों के उद्गमस्थान के निवासियों की भाषा इतनी पुष्ट हो चुकी थी कि उन महान् धर्मप्रवर्तकों के दर्शन ज्ञान और धर्म के सूक्ष्म भावों का वहन कर सके। यह शक्ति उन लोकभाषाओं में संस्कृत की अध्यात्म और दर्शन की शब्दावली के सहारे ही आई थी। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या बुद्ध ने अपनी मातृभाषा (कपिलवस्तु की जनभाषा) को अपने उपदेश का वाहन बनाया या उन्होंने मगध की जनभाषा में प्रचार किया ? क्या कपिलवस्तु और मगध (गया से राजगृह और काशी की भाषा) उस काल में एक ही थी ? आज मगही में और सारनाथ (काशी) की भाषा में जो भोजपुरी का एक रूप है काफी भेद है। क्या उस समय काशी से मगध के आसपास और वैशाली (जो अब मुजफ्फरपुर जिले में है) तक एक ही जनभाषा का

ईरान > अइराण > आर्याणाम्।

* अनेक विद्वानों के अनुसार अवेस्ता का काल १२०० ई० पू० के लगभग है।

प्रचार था ? और क्या, कपिलवस्तु के राजकुमार की मातृभाषा* भी यही थी ? यही प्रश्न महावीर तीर्थंकर के उपदेशों की भाषा के सम्बन्ध में उठता है। महावीर का जन्मस्थान वैशाली है और वहाँ की लोकभाषा में ही यदि उन्होंने जैनधर्म के उपदेश दिये थे तब महावीर और बुद्ध दोनों की भाषाओं में इतना अन्तर क्यों आगया ? इन प्रश्नों और शंकाओं का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है।

जो लोग प्राकृत काल ६०० वर्ष० ई० पू० मानने के पक्ष में हैं, मैं यह उनसे पूछता हूँ कि क्या बुद्ध के पूर्व उस लोकभाषा में, जिसमें उनके उपदेश हुये, कोई लोकसाहित्य भी नहीं रहा होगा ? धर्मोपदेश देकर बुद्ध ने उस लोकभाषा को धार्मिक साहित्य से समृद्ध कर दिया पर इसके पूर्व भी उसमें कुछ सामान्य, साहित्य होगा और रचे जाने की क्षमता रही होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। भाषा जन्म के साथ ही पुष्ट नहीं हो जाती। जिस प्रकार शिशु चलने के पूर्व बैठना और अपने को सँभालना सीखता है, वैसे ही भाषा को भी चलने के पूर्व कुछ समय अभ्यास करना पड़ता है। जैनधर्म की वाहन लोकभाषा और बुद्धधर्म की वाहन भाषा में इतना अन्तर क्यों है, यह मैं नहीं समझ पाता। दोनों का प्रचार क्षेत्र भी प्रायः एक था और जब प्रसिद्धि के अनुसार दोनों ही

---

* मातृभाषा आधुनिक काल में गढ़ा हुआ समस्त शब्द है जो मदर टंग के अनुवाद से बनाया जान पड़ता है। संस्कृत में मध्यकाल तक इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। भाषा स्थानविशेष की या देशविशेष की होती है। जिस देश में किसी का जन्म होता है और जहाँ किसी का शैशव बीतता है उस देश की भाषा ही उसकी जन्मभाषा है। मातृभाषा का प्रयोग भी जन्मभाषा के अर्थ में ही होने लगा है, माता की भाषा के अर्थ में नहीं। जब दूरदूर विवाह होते थे, होते हैं, या होंगे, तब माता की भाषा और पिता की भाषा में अन्तर होगा। अतः जन्म भाषा का प्रयोग ही उचित है अतः बढ़ने योग्य है। कश्मीर के कवि बिल्हण का यह श्लोक देखे जहाँ जन्मभाषा का ही प्रयोग किया गया है।

यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव।
प्रत्यावासं विलसति वचः प्राकृतं संस्कृतंच।

श्री किशोरीदास ने इस का अनुवाद करते हुये जन्मभाषा के स्थान पर मातृभाषा शब्द दे दिया! कदाचित् मातृभाषा शब्द की लोकप्रियता के कारण ही।

लोकभाषा में उपदेश दे रहे थे। जैन और बौद्ध धर्म प्रायः समकालीन हैं और समदेशीय भी, दोनों के प्रवर्त्तक राजन्य वर्ग के हैं और वेदप्रामाण्य के विरोधी हैं। फिर दोनों की तथाकथित मातृभाषा अथवा लोकभाषा में इतना अन्तर क्यों ?

बुद्धदेव का उपदेश धम्मपद पालि* में है। कहा जाता है कि इसी भाषा में बुद्ध ने अपने धर्मोपदेश दिये थे। उपदेश सार रूप से भले ही बुद्धदेव के हों पर भाषा उनकी ही है, यह निःसंशय रूप से कहा नहीं जा सकता। अवश्य ही वे कवि नहीं थे। जिस प्रकार भगवान कृष्ण के उपदेश को उनके परम भक्त और प्रचारक व्यासदेव ने पद्यबद्ध किया था, उसी प्रकार बुद्धदेव के उपदेश को उनके किसी पद्यकार अनुयायी ने वर्त्तमान रूप दे दिया। बुद्धदेव कवि थे, ऐसी कोई प्रसिद्ध भी नहीं है। यह पद्यरूप कब मिला और वह पद्यकार कौन था, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। हो सकता है वह समकालीन हो और यह भी संभव है कि वह सौ-पचास वर्ष बाद हुआ हो।* महावीर की

---

* पाली या पालिः किस देश की भाषा थी, इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। यह मागधी से भिन्न भाषा है, ऐसा अनेक विद्वान् बौद्ध लेखक भी मानते हैं। लंका की परम्परा के अनुसार पालि मगध देश की भाषा पर आधारित थी। सिलवन लेवी आदि विद्वानों का मत है कि बुद्ध के प्रवचन मगध की किसी बोली में थे और उनका पालि में अनुवाद हुआ था।

"पाली मूलतः मध्यदेश की प्राकृत (शौरसेनी) से विकसित हुई थी। भगवान बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया था, वह निःसन्देह मागधी थी, पालि नहीं। (डा० भोला शंकर)।

सिंहल में पालि को मागधी मानते हैं।

"प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पच्छिमी प्रदेश (मध्यप्रदेश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान ने किसी प्राच्य भाषा में उपदेश किया होगा तथापि उनके निर्वाण के सौ दो सौ साल बाद समस्त ग्रंथों का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशी भाषा में हुआ जो संस्कृत के समक्ष स्टैन्डर्ड हो चुकी थी। गठन में पालि बुद्धकालीन नहीं ठहरती, काफी अर्वाचीन (ई० पू० तीसरी सदी की) जान पड़ती है।" डा० सक्सेना— पृ० २४७। पालि में स् है और श का अभाव है। र का ल से भेद है, यह पश्चिमी भाषा है। विद्वानों के अनुसार पालि और अर्धमागधी (आर्षप्राकृत) जिनमें बुद्ध और महावीर के उपदेश संकलित हैं, समकालीन जनभाषा के अधिक

उपदेशभाषा के सम्बन्ध में भी मतभेद है। समवायंगसुत्त के अनुसार भगवान ने अद्ध मागहीं (अर्द्धमागधी) में ही उपदेश दिये थे। तब क्या वैशाली की भाषा उस समय अर्द्धमागधी थी? यह सम्भव भी है, क्योंकि मगध की राजधानी के उसपार ही वैशाली स्थित है। इस अर्द्धमागधी की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख हम अन्यत्र करेंगे। अतः ईसवीं शती ई० पू० के लगभग ही लोकभाषाओं में कुछ साहित्य उपलब्ध था, एवं वे सूक्ष्म भावों और विचारों का माध्यम बनने योग्य हो चुकी थीं। पर जैन और बौद्ध धर्म के उपदेश ग्रंथों की भाषा साहित्यिक प्राकृत है और उनसे लोकभाषा का यथार्थ रूप ज्ञात नहीं होता।

शिलालेखी प्राकृत

अशोक के शिलालेख अनेक प्रदेशों से प्राप्त हुये हैं और उन पर अंकित लेखों में एक ही शब्द भिन्न-भिन्न रूपों में मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत में स्थानीय या प्रादेशिक भेद उस समय भी वर्त्तमान थे। लिख का णिजन्त रूप गिरनार शिलालेख में लेखापिता, शहबाजगढ़ी में लिखपितु, जौगढ़ में लिखापिता तथा मानसेरा में लिख पित है। एक ही धातु के दो भिन्न-भिन्न णिजन्त रूप यह प्रमाणित करते हैं कि उस काल में भी प्राकृत के अनेक स्थानीय भेद थे। ये भेद उसी प्रकार के हैं जैसे लिखने को, लिखने कूँ, लिखन कूँ, लिखिबे को, लिखावे के आदि आज भी हिन्दी की बोलियों में दीखते हैं। इस प्रकार प्राकृत के अनेक रूप चल रहे थे। संस्कृत उस समय तक राजभाषा के रूप में चल रही थी, पर जान पड़ता है कि नवीन धर्मों के उदय के बाद अशोक ने प्राकृत को राजभाषा के रूप में चलाने का प्रयास किया। बौद्ध राजाओं ने संस्कृत को राजभाषा के पद से अपदस्थ कर उस स्थान पर प्राकृत को बैठना चाहा। पर आरम्भ से ही उसके अनेक रूप होने के कारण यह अनुभव किया जाने लगा होगा कि सम्पूर्ण राष्ट्र में, अर्थात् इस महाराष्ट्र में एक ही प्राकृत का प्रचार हो। यदि आज कल राजाज्ञायें हिन्दी (खड़ी बोली) के अतिरिक्त ब्रजभाषा, बुन्देली, खड़ी, अथवा भोजपुरी, मगही आदि में प्रकाशित होने लगे तो जैसी स्थिति उत्पन्न होगी, उसी स्थिति का परिचय अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषाओं से मिलता है।

निकट है। इनको प्राकृत बाद की 'साहित्यिक' महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी और अर्धमागधी से काफी भिन्न हैं।)

व्याकरण शब्दानुशासन करते हैं और संस्कृत भाषा को स्थिर रूप देने और परिनिष्ठित बनाने में वैयाकरणों का योग महत्त्वपूर्ण रहा है। भाषा के प्रवाह को देख कर उसे स्थिरता देने के उद्देश से पाणिनि आदि वैयाकरणों ने उसे सूत्रों से बाँधने का प्रबल प्रयास किया। इससे एक लाभ यह हुआ कि संस्कृत भाषा एक निश्चित साँचे में ढल कर तैयार हुई और बाद की पीढ़ियों को बार-बार नये व्याकरणों की रचना कर अपनी भाषा को सीखना नहीं पड़ा। नहीं तो परिणाम यह होता कि संस्कृत के अनेक परिवर्त्तित रूप को जानने के लिये नये-नये नियमों को घोखना पड़ता। प्राकृतों के विविध भेदों में जब कुछ रचनायें होने लगीं, तब एक व्यापक प्राकृत की आवश्यकता का अनुभव पंडितों को हुआ। जो सम्पूर्ण आर्यावर्त की सामान्य लोकभाषा हो ऐसी एक परिनिष्ठित प्राकृत बनाने का मोह प्राकृत वैयाकरणों को हुआ और उन्होंने ऐसा समझा कि कुछ लक्षणों के आधार पर यदि प्राकृत नियम बना लिये जाँय तो एक व्यापक प्राकृत अस्तित्व में आ सकती है।*

दूसरी शताब्दी के बाद पंडितों ने प्राकृत का व्याकरण रच कर उसे परिनिष्ठित रूप देना शुरू किया। इसके पूर्व ही भास और कालिदास के नाटकों में प्राकृत को स्थान मिल चुका था। वैयाकरणों ने जिस प्राकृत को नियम बनाकर बनाया, उसे उस समय की बोली या भाषा कहना बहुत भ्रामक है। यह व्याकरणों की गढ़ी हुई एक कृत्रिम भाषा है—वैयाकरणों की सृष्टि grammarian'screation है और उसके आधार पर तत्कालीन भाषा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।* इसमें अनेक ऐसे नियम मिलते हैं, जिनका भाषाओं के परवर्त्ती विकास से मेल नहीं बैठता। डा० पंडित का इस सम्बन्ध में मत (प्रा० भा० पृ० ४० हि० सा० पृ० इति० पृ० २६६ पर) इस प्रकार उद्धृत है।

"शौरसेनी वा उसका विकसित रूप महाराष्ट्री, हमारे समक्ष किसी प्रदेश वा समय की व्यवहार-भाषा के रूप में नहीं आती, केवल उसको साहित्यिक स्वरूप में ही पाते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतों का विकास संस्कृत की ही भाँति

---

*"भारतीय विद्वान् प्राकृत भाषाओं को केवल साहित्यिक भाषायें मानते हैं। मृच्छकटिक की टीका की भूमिका में पृथ्वीधर स्पष्ट शब्दों में कहता है— महाराष्ट्रादयः काव्य एव प्रयुज्यन्ते।"

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ६

हुआ है। उत्तरकालीन प्राकृतों में हमारे पास प्रधानतया एक ही प्रकार की प्राकृत भाषा का साहित्य विद्यमान है। यदि व्यवहार की प्राकृत हमारे लिये बनी होती तो इस विशाल देश में अनेक प्रकार की प्राकृत पाई जाती; जैसे वर्त्तमानकाल में पूर्व, पश्चिम वा मध्यदेश और उत्तर में अनेक प्रकार की भारतीय आर्यभाषायें विद्यमान हैं वैसे ही अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न प्राकृत व्यवहार में आतीं।

इस प्रसंग में श्री नरुला का विचार भी चिन्तनीय है।

"यथार्थ में नाटकीय प्राकृतें इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ये भाषायें आम बोलचाल की न हो कर विभिन्न श्रेणियों या वर्गों को कृत्रिम भाषायें थीं। ... ...मृच्छकटिक के अनुसार विदूषक प्राच्य का प्रयोग करता है, वीरक आवन्ती का और स्थावरक कुम्भीलक, वर्धमानक आदि मागधी का। शकुन्तला में मछुये, पुलिस कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का प्रयोग करते हैं। शाकारी शाबरी, चाण्डाली आदि श्रेणी भाषायें मागधी का ही विकृत रूप मानी जाती हैं और शौरसेनी महिलाओं, शिशुओं और ज्योतिषियों आदि की भाषा हैं।" "अधिकांश प्राकृतों की साहित्यिक आकृति के कृत्रिम स्वरूप को ध्यान में रखना होगा।"

वररुचिने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार प्राकृतों का उल्लेख किया है। इनमें महाराष्ट्री प्राकृत को ही प्रमुख माना है और इसे ही आधार बनाकर व्याकरण रचे गये हैं। महाराष्ट्री प्राकृत भी वैयाकरणों की की गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा हो गई। "संस्कृत के नाटकों तथा प्राकृत काव्यों की प्राकृत बोलचाल की प्राकृत न हो कर किताबी प्राकृत है। * व्याकरण-

---

१. क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः— प्राकृत प्रकाशः २/२

२. देशीनाममाला—हेमचन्द्र—

* महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत शब्दों के व्यंजन इतने अधिक और इस प्रकार से निकाल दिये गये हैं कि अन्यत्र कहीं यह बात देखने में नहीं आती। इसका फल यह हुआ है कि इस प्राकृत का एक शब्द, कई संस्कृत शब्दों का अर्थ देता है और उनके स्थान पर प्रयोग में आता है। महाराष्ट्री कअ =क च और कृत; कइ=कत, कपि, कवि, कृति; काअ,=काक काच, काय; गआ=गता, गदा, ग, गजा, मअ=मत, मद, मय, मृग मृत, वअ=वचस् वयस्, व्रत, पद; सुअ=शुक, सुत, श्रुत आदि। इसी

के अनुसार संस्कृत में ध्वनिपरिवर्त्तन तथा पदरचनात्मक परिवर्त्तन करके प्राकृत की रचना होने लगी।" जब आज के भाषाशास्त्री इन प्राकृतों के अनुशीलन के बाद ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचे हैं. तब संस्कृत के पुरानी पद्धति के पंडितों को दोष देना व्यर्थ है, जो प्राकृत की योनि संस्कृत को मानते हैं (प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतयोनि:)

प्राकृत में जो ध्वनि-परिवर्त्तन के नियम सामान्य रूप से चला दिये गये, वे भी कुछ शब्दों में उन नियमों की व्याप्ति देख कर ही वैयाकरणों ने बनाये होंगे। कृत्रिमता इस लिये आगई चूँके कुछ शब्दों में ही दीख पड़ने वाले लक्षणों के आधार पर व्यापक नियम बनाये गये और सभी शब्दों को उसी नियम के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया गया।

संस्कृत से प्राकृत में भेद

(१) प्राकृत में केवल दो वचन हैं एकवचन और बहुवचन। द्विवचन लुप्त हो चुका है।

(२) केवल अ इ उ और आ ई ऊ स्वरान्त शब्द है। ऋ लृ का लोप हो चुका है। ए ऐ ओ औ स्वरान्त शब्द भी नहीं हैं।

(३) हलन्त संस्कृत शब्द अजन्त (अ स्वरयुक्त) हो गये हैं।

(४) केवल स्वरान्त धातुयें।

(५) भूतकाल के तिङन्त के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग।

(६) मध्यम क ग प ज त द प य व का प्रायः लोप।

(७) पदादि य का ज। श ष स का स। मागधी में श।

(८) ध्वनियों में समीकरण→पक्क→पक्व उम्मि→ ऊर्म्मि।

(९) आदि व्यंजन का लोप– स्फटिक←फटिक स्थूल←थूल।

लिये बीम्स साहब ने ठीक ही बात कही है कि महाराष्ट्री Emasculated Stuff अर्थात्, पुंसत्वहीन भाषा है। जैसा कि विद्वान् लोग पहले से मानते आ रहे हैं। कि महाराष्ट्रीप्राकृत से व्यंजन इसलिए भगा दिये गये कि इस प्राकृत का प्रयोग सबसे अधिक गीतों में किया जाता था तथा इसमें अधिकाअधिक लालित्य लाने के लिये यह भाषा श्रुतिमधुर बनाई गई।

(प्राकृत भाषाओं का व्याकरण– पृ० १८)

(१०) संस्कृत की संयुक्त व्यंजन ध्वनियों में स्वर भक्ति का प्रयोग। कुछ शब्दों में ही यह देखा जाता है।

मर्यादा→ मरियादा।

(११) कुछ नये शब्द, जिनका संस्कृत शब्दों से सम्बन्ध प्राकृत वैयाकरण जोड़ नहीं पाते और विवश हो 'देसी' शब्द कहते हैं।

क ग च ज त द प य वां प्रायो लोप: का नियम अतिशयता से चलाने के कारण प्राकृत में कृत्रिमता अधिक आ गई। लोक— लोअ, सकल —सअल, नगर—नअर, रसतल—रसातल। ये प्राकृत रूप वैयाकरणनिर्मित ही जान पड़ते हैं क्योंकि बाद की जनपदी बोलियों में यह प्रवृत्ति नहीं है और उनके रूप संस्कृत मूल के ही निकट हैं।

एक प्रमुख प्रवृत्ति की हमने अब तक चर्चा नहीं की। वह मागधी प्राकृत में न का ण होना। हिन्दी में ऐसा नहीं होता। 'मागधी'* क्षेत्र की बोलियों में तो कदापि नहीं। यह प्रवृत्ति भाषाप्रवाह से मेल नहीं खाती। नव का णव नील का णील, नन्द का णन्द, नागराज का णाअराज इसी प्रवृत्ति का फल या कुफल है। इस ण के बहुल प्रयोग और व्यंजन की स्वर में परिणति ने प्राकृत को कृत्रिम बना दिया। आधुनिक भाषाओं के आरम्भिक रूप इन कृत्रिम रूपों की कृत्रिमता की कलई खोल देते हैं। भाषा के साथ ऐसा मज़ाक किसी देश में नहीं हुआ होगा। संस्कृत के नाटक भाषा के क्षेत्र में अराजकता या बहुराजकता के अच्छे दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। संस्कृत नाटकों के दर्शक के लिये बहुभाषाविद् होना आवश्यक था। एक साथ ही उसे संस्कृत ज्ञान के साथ प्राकृत के अनेक भेदों के ज्ञान का उपयोग करना पड़ा। इस कृत्रिमता का ही यह कुफल था कि प्राकृत भाषा तमाशा बन गई और जनभाषा से उसकी दूरी बढ़ती गई। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद प्राकृत को प्राप्त राजाश्रय भी छिनने लगा और अपभ्रंश

---

*मागधी की एक बड़ी पहचान यह है कि र का ल हो जाता है और स का श तथा अ में समाप्त होने वाले अथवा व्यंजनों में अन्त होने वाले ऐसे शब्दों का कर्त्ता कारक एकवचन, जिनके व्यंजन अ में समाप्त होते हों, ए में बदल जाते हैं और ओ के स्थान में ए हो जाता है। समवायंग सुत्त पेज ९८ और उवासगदसाओ पेज ४६ की टीका में अभयदेव इन कारणों से ही इस भाषा का नाम अर्धमागधी पड़ा, यह बात बताता है— अर्धमागधीभाषायस्याम् रसोर् लशौ मागध्याम् इत्यादिकं मागधभाषा लक्षणं परिपूर्णं नास्ति।'' प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पेज २८

नाम की भाषायें सिर उठाने लगी। व्यंजनों के स्थान पर स्वरों के आगम से कोमलता लाने का जो कृत्रिम उपाय निकाला गया उससे भाषा के सहज प्रवाह में कुछ बाधा ही पड़ी।

अर्धमागधी की विशेषतायें

भोलाशंकर व्यास के अनुसार इसके मुख्य भाषावैज्ञानिक लक्षण इस प्रकार है :—

(१) इसमें र– स ध्वनियां हैं, मागधी की तरह ल-श नहीं।

(२) संयुक्त व्यंजन के पूर्व का स्वर दीर्घ बनाकर उसके एक व्यंजन का लोप, जैसे वास (वस्स, वर्ष)

(३) व्यंजन का लोप या अपश्रुति का प्रयोग

ठिय > स्थित सायर > सागर —

(४) क का ग होना। अशोक<असोग श्रावकं—सावग

(५) प्रथमा एकवचन में एक साथ ओ वाले रूप भी

श्रावकः—सावगे

श्रमणः—समणो

(६) त्वा, ल्यप् के स्थान पर इत, ट्टु प्रत्यय

त्वा—स्तु त्वा—सुणितु ज्ञात्वा—जणित्तु

ल्यप्—अपहृत्य —अवहट्टु

(हि. भा. वृ, इति. प्रथम भाग)

अर्धमागधी में श्वेताम्बर जैनों का धार्मिक साहित्य (अंग उपांग आदि) रचा गया है। कहा जाता है कि इनका संकलन चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुआ था और पाँचवी सदीं में इसका सम्पादन हुआ। इसके पूर्व यह साहित्य भी मौखिक परम्परा से ही प्रचारित हुआ। श्वेताम्बर का कथासाहित्य आदि जैन महाराष्ट्री में है। दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी में है। सम्प्रदाय-भेद से भाषा भेद, यह विचित्रता है। पुनः शौरसेनी और महाराष्ट्री में जैन और अजैन का भेद भी कम विचित्र नहीं है। भेदबहुल भारतीय समाज में भाषा में भेद न होना ही आश्चर्य है।

शौरसेनी प्राकृत * संस्कृत नाटकों में स्त्रियों और मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा है। इसका लक्षण डा० सकसेना इस प्रकार बताते हैं। 'दो स्वरों के बीच में सं० त् थ का शौ० में द् ध् हो जाता है और दो स्वरों के बीच की द् ध् ध्वनियों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, जैसे, गच्छति <गच्छदि यथा <जधा, जलदः <जलदा, क्रोधः <क्राधो।'

नाटकों में प्राकृत पद्य महाराष्ट्री प्राकृत में रहता है। प्रसिद्ध गाहा सतसई और रावन वहो महाराष्ट्री प्राकृत में रचे गये हैं। महाराष्ट्री में गच्छति का रूप गच्छइ, यथा का जहाँ, जलद का जलओ और क्रोध का कोहो है।

मागधी प्राकृत[१] के मुख्य लक्षण डा० सकसेना ने इस प्रकार बतलाये हैं

(१) संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् (सत शत्त)

(२) र् का जगह ल् (राजा) लाजा

(३) अन्य प्राकृतों को ज् की जगह य् और ज्ज की जगह य्य् (यधा, याणदि, अय्य, भय्य, कय्य।)

(४) ण्ण की जगह ञ्ज् (पुञ्ज, लञ्जो)

(५) अकारान्त संज्ञा के प्रथम एकवचन में ओ की जगह ए (देवो देवे स)

इस प्राकृत में कोई साहित्य नहीं मिलता।

---

* 'वररुचिने १२, २ में कहा है कि इस की प्रकृति संस्कृत है अर्थात् इसकी आधारभूत भाषा संस्कृत है। वह अपने ग्रन्थ में शौरसेनी के विषय में केवल २९ नियम देता है, जो इस ग्रन्थ की सभी हस्तलिखित प्रतियों में एक ही प्रकार के पाये जाते हैं और १२, ३२ में उसने यह कह दिया है कि शौरसेनी प्राकृत के और सब नियम महाराष्ट्री प्राकृत के समान ही हैं शेषम् महाराष्ट्रीवत्। हेमचन्द्र ने ४, २६० से २८६ तक इस प्राकृत के विषय में २७ नियम दिये हैं, इनमें से अन्तिम अर्थात २७ वाँ नियम शेषम् प्राकृतवत् है, जो वररुचि के १२, ३२ से मिलता है, क्योंकि प्राकृत भाषाओं में महाराष्टी ही श्रेष्ठ और विशुद्ध प्राकृत मानी गई है।' प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पे० ४१

[१]'साहित्यदर्पण ८१ के अनुसार मागधी नपुंसकों, किरातों, बौनों, म्लेच्छों, आभीरों, शकारों, कुबड़ों आदि द्वारा बोली जाती है। भरत २४, ५०-५९ तक में बताया गया है कि मागधी नपुंसकों, स्नातकों और प्रतिहारियों-द्वारा बोली जाती है। दशरूप २, ६० में लिखा गया है कि पिशाच और नीच जातियाँ मागधी बोलती हैं और सरस्वतीकंठाभरण का मत है कि नीच स्थिति के लोग मागधी प्राकृत काम में लाते हैं।"—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पे० ४४

पैशाची प्राकृत

कहा जाता है कि बड्डकहा (बृहत्कथा) इसी प्राकृत में रची गई थी। पर अब वह प्राप्त नहीं। इसके लक्षण व्याकरणों में मिलते हैं। 'मुख्य यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वरों के बीच में आने वाले सघोष स्पर्शवर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे) अघोष (पहले, दूसरे) हो जाते हैं, जैसे गगनं गकनं, मेघो मेखो-राजा-राचा वारिद:-वारितो।

प्रधान प्राकृत ये हैं। मृच्छकटिक में शाकारी और ढक्की का प्रयोग हुआ है। शाबरी और चांडाली भी कहीं कहीं पाई जाती है। आभीरिका और अवन्तिका का भी उल्लेख हुआ है। इन प्राकृतों के बारे में हमलोगों का ज्ञान कम है।

इन प्राकृतों का उदयकाल कबसे मानना उचित है, इसका उत्तर देते समय हमें इन बातों पर ध्यान देना होगा,

(१) पालि साहित्य हमें ई० पू० चौथी से पाँचवीशती तक का मिलता है।

(२) खोतानी प्राकृत

(३) अवस्ता की गाथाओं को भाषा (यदि इसे वेदभाषा का ईरानी प्राकृत रूप में विकास मानकर विचार करें)— इसका आधुनिक विद्वानों द्वारा निर्धारित काल ८०० ई० पू० के लगभग है।

(४) प्राकृतों में साहित्य तो ६०० ई० पू० तक मिलता है। पर यदि हम अपभ्रंश के उदय तक प्राकृत की स्थिति मानें तो अपभ्रंश के आरम्भ के सम्बन्ध में निम्नांकित साक्ष्य विचारणीय हैं :

(क) कालिदास की विक्रमोर्वशी में आये हुये एक गीत की भाषा।

(ख) दण्डी के समय (७वी० शती) से अपभ्रंश में काव्यरचना का उल्लेख है।

(ग) अपभ्रंश भाषा का अन्त १००० ई० के लगभग हुआ।

(घ) मध्यकालीन फारसी विद्वानों के अनुसार अपभ्रंश से मिलती हैं। इसके एक रूप सोग्दी की कुछ पुस्तकें ८ वी० शती की मिली हैं एक पुस्तक ईसवी के आरम्भ काल की है।

अतः मेरा मत है कि प्राकृतकाल ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व से चलता है। अपभ्रंश का आरम्भ भी ईस्वी के आरम्भ के लगभग माना जाना चाहिये। यह कालनिर्धारण भाषा की दृष्टि से है।

अतः प्राकृत-काल —१००० ई० पू० से ईसातक

अपभ्रंश-काल—१—१००० ई० तक

एक हजार ई० के बाद आधुनिक भाषाओं के उदय के चिह्न प्रकट होते हैं।

अपभ्रंश का उद्‌यकाल

प्राकृतों को संस्कृत पंडितों ने प्रकृति से उद्भूत या आगत माना था—विकृत नहीं। प्राकृत को कुछ नियमों के अनुशासन द्वारा संस्कृत में परिणत किया जा सकता था और संस्कृत से भी प्राकृत गढ़ कर बना ली जाती थी। उत्तर कालीन संस्कृत नाटककार व्याकरण के नियमानुसार प्राकृत गढ़ लिया करते थे। संस्कृत प्राकृत में परस्पर रूप-विनिमय का कार्य निश्चित नियमों के पालन से सम्भव होता था। जब वैयाकरण संस्कृत-प्राकृत में ऐसा शारीरिक अथवा देहज सम्बन्ध मानते थे, तब प्राकृत को 'विकृत' कैसे माना जाता है।

अपभ्रंश शब्द का अर्थ है—पतित या विकृत रूप। जैसे-जैसे प्राकृत से भाषा दूर होती गई वैयाकरण उस भाषा को अपभ्रष्ट समझने लगे। अपभ्रंश का अपभ्रंश है— अवहंस, अव्बभंस; अपभ्रष्ट का अवहट्ट, अवहत्थ। पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का 'बिगड़े हुये रूप' के ही अर्थ में प्रयोग किया है *'एकस्यैवहिशब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी

---

* अपभ्रंश शब्द के अन्य प्रयोग;

(१) शब्दसंस्कार हीनो चा गौरिति प्रयुयुक्षिते।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशनम्॥ वाक्यपदीय भर्तहरि

(२) आभीरादि गिरिः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। काव्यादर्श, दण्डी

गोता गोपोतलिके त्यादवो बहवोऽपभ्रंशाः। भरत[1] ने अपभ्रष्ट के अर्थ में ही 'विभ्रष्ट' का प्रयोग किया है (नाट्यशास्त्र १८, ३) भामह ने अपभ्रंश को भाषाशैलियों में एक माना है। अपभ्रंश का भाषा के रूप में उल्लेख (६ वीं. शताब्दी) में किया गया है

'देसभासा' और अपभ्रंश

जब अपभ्रंश काल समाप्त हो रहा था और 'देसी' भाषाओं का उदय हो रहा था उस समय पंडितों ने इन भाषाओं को भी अपभ्रंश कहना आरम्भ किया। बौल्लेन सेन द्वारा १८४६ में सेन्टपीटर्सबर्ग से प्रकाशित विक्रमोर्वशी के पृष्ठ ५०६ में रविकर का जो मत उद्धृत किया गया है उसमें दो प्रकार के अपभ्रंशों का भेद बतलाया गया है। उसमें यह कहा गया है कि एक ढंग की अपभ्रंश भाषा प्राकृत से निकली है और वह प्राकृत भाषा के शब्दों और धातुरूप से बहुत कम भेद रखती है तथा दूसरी भाँति की देशभाषा है, जिसे जनता बोलती है। (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ०४) किन्तु अपभ्रंश तो वे तद्भव रूप ही थे, जिनका सम्बन्ध प्राकृत से जोड़ा जा सकता है। जब भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होने लगे जो प्राकृत-संस्कृत से असम्बद्ध थे, तब उन शब्दों को 'देसी' कहा जाने लगा। देसी शब्दों से युक्त भाषा को देशभाषा कहा जाने लगा। अपभ्रंश और 'देशी भाषा' में यह अन्तर है। अपभ्रंश में भी जब पर्याप्त साहित्य रचा जाने लगा तब उसका व्याकरण भी पंडितों ने प्रस्तुत किया। हेमचन्द्र अपने ने शब्दानुशासन अपभ्रंश

१—भरत का काल (२००ई.) के लगभग माना जाता है।

कपूरमंजरी में प्राकृत और संस्कृत में महिला और पुरुष का अन्तर बताया गया है।

परुसा सक्कअबधा पाउअबधो वि होइ सुउमारा।

पुरिसं महिलायं जे त्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाणः॥

क्या संस्कृत का तद्भव 'सक्कअ' और प्राकृत का पाउअ है ?

संस्कृत और प्राकृत तद्भव हो सकते हैं। सक्कअ और पाउअ तो मात्र गढ़े हुये प्राकृत रूपान्तर हैं—सहज तद्भव नहीं।

का व्याकरण भी दिया है। संस्कृत-प्राकृत के पंडितों ने अनादर की भावना से ही अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया। पर जब देशी शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा और अपभ्रंश से युक्त 'देसी भासा' में रचनायें होने लगी तब उसके सेवकों में उस भाषा का भी अभिमान जगा। देसी भाषा के कवि अपनी देसी भाषा या 'देसिल बअना; पर ही गर्व करने लगे।

देसीभाषा उभय तडुज्झल
कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल—पउम चरिउ
णउ सक्कउ पाउअ देसभास
णउसद्दु वण्णु जाणमि समास

णेमिणाह चरिउ

(पृ० ३१५—हि० सा० वृ० इति० पर उद्धत)

ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश के परवर्ती विकास को ही बाद में 'देस भासा' भी कहा जाने लगा। इस 'देसभासा' को ही कुछ विद्वान् 'पुरानी हिन्दी' नाम देना चाहते हैं। 'पुरानी हिन्दी' नाम तो ओल्ड इंगलिश के आधार पर गढ़ा लगता है। जब उस भाषा का समकालीन नाम देसभासा काव्यों में मिलता है तब उस नाम को ही चलाना उचित है।

विद्यापति ने कीतिलता में 'देसिल बअना' (देसी बैन—देशवाणी) को सबसे मिट्ठा कहा है।

सक्कय बाणी बहुअ (न) भावइ। पाउअ रस को मरम न पावइ।
देसिल बअना सब सञ्ञा मिट्ठा तं तेसन जम्पिअ अवहट्टा।

जिस प्राकृत (पाउअ) को मधुर माना जाता था उसी के विषय में विद्यापति पाउअरस को मरम न पावइ कहते हैं। कैसा रुचिभेद हो गया है।

अपभ्रंश का काल ६००—१००० ई० तक माना जाता है। अतः उसके बाद 'देस भासा' का आरम्भ माना जाना चाहिये। ऐसे तो अपभ्रंश के कुछ पद्य कालिदास के विक्रमोर्वशीय में मिलते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें क्षेपक मानने के पक्ष में हैं।* अपभ्रंश के तीन रूपों का उल्लेख प्राकृतसर्वस्व में है—नागर, ब्राचड, उपनागर।

---

* मइं जाणिउ मिअ लोअणि णिसियरु कोइ हरेइ
जावण णव तडि सामलो धाराहरु बरिसेइ।

नागरो व्राचडश्चोपनागर श्चेतित्रयः ।

अपभ्रंशा परे सूक्ष्म भेदत्वान्न पृथङ् मता ।

तगारे ने दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी ये तीन भेद माने हैं। नागर अपभ्रंश ही पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र का अपभ्रंश है। कदाचित् हिन्दी भाषा के लिये नागरी भाषा नाम का कारण इसका नागर अपभ्रंश से सम्बन्ध होना ही हो। नागर अपभ्रंश का क्या क्षेत्र है, इसका निश्चयपूर्वक कथन कठिन हैं। मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेदों का उल्लेख किया है और वे स्थानों के नाम पर हैं, पर इन सभी भेदों का कोई परिचय नहीं मिलता। * पश्चिमी अपभ्रंश में जैन साहित्य अधिक मिलता है। इनमें भविसयत्त कहा सनतकुमारचरिग्रउ आदि प्रसिद्ध है। पूर्वी अपभ्रंश में सिद्धों के गान और दोहे प्राप्त हुये हैं।

अपभ्रंश की भाषिक विशेषतायें

(१) स्वर मध्यग क-ख, तथ प-फ का ग-घ, द-ध; ब-म में यथासंख्य परिवर्तना अनादौ स्वरादसंयुक्ताना क-ख-त-थ-प-फा ग-घ-द-ध-ब-भा: ८-४३-९६

(२) ञ ङ शष नहीं है

(३) कर्त्ता और कर्म के एकवचन में उ आना—संकरु (शंकर) दहमुहु, (दशमुख) चउमुहु (चतुर्मुख, यह प्रवृत्ति मानस की अवधी में भी प्राचीन प्रतियों में देखी जाती है। अपभ्रंशे अकारस्यस्यमो परयो: उकारोभवति ४ ३३१ यह अपभ्रंश का एक प्रमुख लक्षण है। कुछ लोगों ने अपभ्रंश को इसी कारण

कुवलयकथामाला में उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश के १८ भेद बताये हैं।

१. The beginnings of the New-Indo Aryan Stage is somewhere after the 10 the Century A. D. But the main difficulty which I pointed out is again reiterated by Bloch when he points out that the Prakrits of literature, inlcuding Apabhramsa, though originally connected with some local area, are not images of the living languages or vernaculars but merely the symbols of successive stages of Indo-Aryan considered in its ensemble. The details preserved in one or the other of these serve less to specify the dialect than to recognise intermediate stages or to make guesses at evolutions which were arrested. Tagare. P. 23.

उकारबहुला भाषा कहा है। कहीं-कहीं कर्त्ता ए० व० में शून्यविभक्ति वाले रूप भी अपभ्रंश में मिलते हैं जैसा आधुनिक भाषा में।

(४) ए-ऐ, ओ--औ के बाद संयुक्त व्यंजन आने पर ह्रस्व ए-ओ होना। प्रेक्ष—पेक्ख।

(५ केवल ण्ह, म्ह, ल्ह संयुक्त ध्वनियाँ ही आदि में आ सकती हैं।

(६) म का वँ होना। तद्भव रूपों में एक साथ दोनों रूप मिलते हैं।

ग्राम—गाम, गाँव, श्याम—सामल-साँवल

(७) व्यंजनान्त शब्द नहीं मिलते। अन्त्य व्यंजन का लोप हो जाता है या अ जोड़ कर स्वरान्त कर दिया जाता है।

जगत्—जग। मनस्—मा (मन के न का ण)

(८) नपुंसक लिंग मिलता हैं, पर बहुत कम। पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग का ही बाहुल्य है अ-इ-उ-अन्त वाले शब्द तीनों लिंगो में होते हैं। आ-ई-ऊ अन्त वाले स्त्रीलिंग में। सामान्यत: ये नियम दीख पड़ते हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में लिंग को 'अतंत्र' कहा है—लिंगमतंत्रम्।

(९ यश्रुति का प्रयोग।

सं० नागदत—प्रा० णग्रादत्त—अप० णायदत्त

सं० युगल—प्रा जुग्रल—अप—जुयल।

(अवर्णो यश्रुतिः ८-१८० इसकी टीका इस प्रकार है—कगच जेत्यादिना लुकि सति वर्णो अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्नरयकारश्रुतिर्भवति)

कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम्। हेमचन्द्र ४-४१०

अपभ्रंशेकादिषु व्यञ्जनेषुस्थितयोः ए ओ इत्येत्योरुच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति। (अपभ्रंश में स्थित क आदि व्यंजनों :में रहने वाले ए और ओ का उच्चारण प्रायः लघु होता है। 'तसु हउँ कलिजुगि दुल्लह हो' यहाँ हो में ओ का उच्चारण लघु है। (अप० व्या० पृ० ५८)

१ वर्त्तमान काल में भी यह य श्रुति मिलती है। पूर्व में य श्रुति के स्थान पर व श्रुति प्राय: देखी जाती है। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में य श्रुति की ओर प्रवृत्ति हैं।

पीए- पीये-पीवे; खाए-खाये। जाए-जाये-जावे। बोलचाल में यश्रुति सुनी जाती है अतः पीये, खाये आदि रूप भी शुद्ध हैं।

(१०) संस्कृत की सुप् विभक्तियों के स्थान पर विभक्तियों (परसर्गों) का प्रयोग आरम्भ होने लगा।

सम्बन्ध—केरक, केर, केरा,

करण—सो, सजो, संहु,

सम्प्रदान—केहि

अधिकरण—माँझ, उप्परि

अपभ्रंश में सुप् चिह्न भी मिलते हैं। करण—एण, एँ, अपादान—हुँ, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण में बहुवचन में-हं; सम्बोधन—हो।

अपभ्रंश की विभक्तियाँ

	ए. व	ब. व
प्र०	उ, ०	०, आ, ई ऊ
द्वि०	उ, ०	,,
तृ० स०	इ, इं, ए	हि–हिं
प० च० ष०	हु, हो	ह–हे
सम्ब०	०, दीर्घ,	हो, हु.

अपभ्रंश में तिङन्तों के स्थान पर कृदन्त प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्त्तमान और भविष्यत् में तिङन्त में तद्भव रूपों के भी प्रयोग मिलते हैं। आत्मनेपद का प्रयोग समाप्त हो चुका था और केवल परस्मैपद मिलता है। सम्बन्ध को दिखलाने के लिये परसर्गों का प्रयोग शुरू हो गया।

	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	हउँ भणउ (अहं भणामि)	अम्हे भणहुँ (वयं भणामः)
म० पु०	सि	हि
अ० पु.	इ	अंति, अइं

सर्वनाम

	एक व०	ब० व०
प्र०	हउं मइ मइं	अम्हे अम्हइ
द्वि०	मए	
तृ०	मइ	
च०		
पं०	मइ	

प्र० ए० व०

ष० मज्झु

स० मइ

तत्–सो यत्–जो

धातु—धातुयें भ्वादिगणीय धातुओं की तरह चलती हैं। उनके के तीन लकार नष्ट हो गये है। हेतुहेतुमद्भूत भी नहीं रह गया। भूतकालिक कृदन्तों का प्रयोग मिलता है। इन्हीं से भूतकाल रूप हिन्दी में विकसित दिये है। कर्मणिभूत कृदन्तों के विकसित होने के कारण ही हिन्दी में सकर्मक क्रिया के साथ ने का प्रयोग होता हैं। (डा० भोलाशंकर व्यास)

परसर्ग—अपभ्रंश में पहले पहल परसर्गों का प्रयोग मिलता है। इनमें प्रमुख हैं होन्त, होन्त, होन्ति, ठिउ केरअ, केर, और तण हैं।

होन्तउ–√भू ∠हू के वर्त्तमानकालिक कृदन्त रूप से ठिउ–√स्था

करे करअ षष्टी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त। तगारे के अनुसार पूर्वी अपभ्रंश में इसका कोई संकेत नहीं मिलता। तण–तणउ तना रूप भो। हेमचन्द्र के दोहों में षष्ठी वाले रूपों के साथ होता है बाद में तृतीया विभक्ति के रूप म प्रयोग।

हिन्दी और अपभ्रंश में एक अन्तर है कि जहाँ शब्द के अन्त में द्वित्व है वह पूर्वोवर्त्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। कम्म—काम अज्ज–आज अट्ठ–आठ। दूसरा अन्तर हैं कि संयुक्त ध्वनि के नासिक्य व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ सानुनासिक कर दिया जाता है दन्त–दाँत कम्प–काँप, कण्ट (क)–काँटा

अपभ्रंश की रचनायें

दण्डी (७ वीं शती) और उद्योतन सूरि (८ वीं शती) की अपभ्रंश रचनायें मिलती हैं। क्रमशः अपभ्रंश-काव्य को आदर मिलने लगा। इस अपभ्रंश के भी

दण्डी ने लिखा है आभीरादिषु गिरः काव्येष्वप्रंश इति स्मृतः आभीरादिषु में आदिषु से किसकी ओर संकेत है यह स्पष्ट नहीं होता। वलभी के राजा धरसेन अपने पिता गुहसेन को अपभ्रंश में प्रबन्धरचना में पटु बतलाया हैं। उनके शिलालेख ५५९ से ६९ तक के मिले हैं। भामह (६ ठी शती) और दण्डी ने भी अपभ्रंश को काव्यभाषा माना है। अतः इसके पूर्व ही अपभ्रंश साहित्यभाषा हो चुकी थी। अतः गुहसेन के पूर्व ही उस भाषा का साहित्य में व्यवहार यह सूचित करता है कि वह अवश्य ही दो तीन सौ वर्ष पूर्व किसी प्रदेश या जाति की बोलचाल की भाषा थी।

कई रूप थे—धर्म, वर्ग और स्थान-भेद से भाषा-भेद की प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी दीख पड़ती है। विद्वानों ने जैन और जैनेतर अपभ्रंश का उल्लेख किया है। बौद्ध दोहों और चर्यापदों की भाषा में भी भेद है। अद्दहमाण नामक एक मुसलमान कवि ने भी अपभ्रंश में रचना की। अनेक हिन्दू धर्मावलम्बी लेखकों ने भी अपभ्रंश में रचना की है।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में पिशल के विचार

"साहित्यिक अपभ्रंश प्राकृतो ऽप्रभंशः अर्थात प्राकृत अपभ्रंश है। इसकी ध्वनि के अनुसार स्वरों को दीर्घ और ह्रस्व करने की पूरी स्वतंत्रता रहती है जिसके कारण कवि महोदय चाहें तो किसी स्थान पर और अपनी इच्छा के अनुसार स्वरों को उलटपुलट दें, चाहें तो अन्तिम स्वरों को उड़ा ही दें, शब्दों के वर्णों को खा जाँय, लिंग, विभक्ति, एकवचन, बहुवचन आदि में उथलपुथल कर दें और कर्तृ तथा कर्मवाच्य को एक दूसरे में बदल दें आदि आदि बातें अपभ्रंश को साधारण रूप से महत्त्व पूर्ण और सरस बना देती है। अपभ्रंश भाषा की विशेषता यह भी है हि इसका सम्बन्ध वैदिक भाषा से है।

हेमचन्द्रने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है वह बोलचाल की भाषा नहीं है। वह अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूा का ही व्याकरण है। उससमय तक वह पूर्ण रूप से साहित्यभाषा के रूप में विकसित और स्वीकृत हो चुकी थी। साहित्य में शौरसेनी अपभ्रंश का ही अधिक प्रचार था, जो काव्यभाषा रूप में गुजरात, पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक चलती थी (चटर्जी) श्री जगन्नाथ राय शर्मा का कथन है कि शौरसेनी अपभ्रंश का भारतीय अपभ्रंशों में वही स्थान था जो महाराष्ट्री प्राकृतों में और खड़ी बोली का आज की बोलियों में। कथ्य भाषा में १००० ई. के बाद से ही परिवर्त्तन हो रहे थे। अपभ्रंश के बाद के और देशभाषाओं के उदयकाल के बीच की कुछ रचनायें मिली हैं जिनसे उस अन्तरिम काल में भाषा की स्थिति का ठीक ज्ञान नहीं होता, पर कुछ परिवर्त्तन की दिशा का संकेत अवश्य मिलता है। प्राकृतपैंगलम् से आद्य पश्चिमी हिन्दी का रूप ज्ञात होता है। वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता हिन्दी के पूर्वीय सीमान्त में रचे गये थे। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा को आद्य अवधी (कोसल) कहा गया है। प्राकृतपैंगलम् संग्रह ग्रन्थ है और उसमें कुछ प्राकृत और अपभ्रंश की रचनायें भी संकलित है। इसकी विशेषता यही है कि इसमें पश्चिमी हिन्दी के कुछ रूप मिल जाते हैं। वस्तुतः एक लेखक की रचना और एक काल की

भाषा न होने के कारण इसका विशेष महत्त्व नहीं है। ब्रजभाषा या खड़ी बोली के कुछ क्रियारूपों के मिलने से ही इसका महत्त्व माना जाता है। कीर्तिलता की अवहट्ट भाषा को मैथिली अपभ्रंश कह सकते हैं, पर वह भी समकालीन लोकभाषा नहीं है। विद्यापति की पदावली की भाषा ही मैथिली के लोकभाषा रूप पर आधारित साहित्यभाषा है।

अपभ्रंश के विषय में श्री नरुला का मत है—'अपभ्रंश उस समय की जनता की बोलचाल की भाषायें न थी, और पहले की प्राकृतों के समान, अगरचे उनसे कुछ कम, कृत्रिम भाषायें थीं।" श्री शिवप्रसाद सिंह का मत भी विचारणीय है। "अपभ्रंश भाषा की विपुल सामग्री के प्रकाश में आ जाने के कारण नव्य भारतीय भाषाओं की एक विस्तृत कड़ी का सन्धान हुआ है किन्तु अभाग्य वश इस पुस्तक सामग्री का अधिकांश, हिन्दी के अध्ययन की दृष्टि से अवान्तर महत्त्व की वस्तु है। ऐसा तो नहीं है कि इनसे हिन्दी के विकासक्रम को समझने में सहायता मिल ही नहीं सकती। परन्तु इनमें से कोई भी रचना ऐसी नहीं जिसे आप हिन्दी की आरम्भिक रचना कह सकें।" प्राकृतपैंगलम् में प्राचीन ब्रज के तत्त्व, कल्पना, सित० १९५५ मेरे विचार में भी प्राकृत और अपभ्रंश कृत्रिम साहित्य भाषायें हैं और वे वैयाकरणों द्वारा शासित और नियन्त्रित होने के कारण अपने समय को जनभाषा के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकती। उनके अनुशीलन से हमें भाषा के विकास को समझने में कुछ सहायता मिल सकती है, पर उन्हें स्वाभाविक विकास मानना ठीक नहीं है।

जिस समय हिन्दी के कवि अपभ्रंश डिंगल आदि में रचनायें प्रस्तुत कर रहे थे उसी समय दक्खिन में उत्तर भारत से गये हुये प्रवासी मुसलमान खड़ी बोली में रचनायें कर रहे थे। अपभ्रंश, अपभ्रंशाभास और पुरानी हिन्दी से इन दक्खिनी मुसलमानों की कृतियों की भाषा, दिल्ली के पड़ोस की भाषा के अधिक निकट है। ऐसे लेखकों में सैयद मुहम्मद १३७५–१४७९ वि० और कवि निजामी १५१७ वि० का उल्लेख किया जा सकता है। उर्दू के शब्द इसमें कम है। खड़ी बोली के एक रूप का, मुसलमानी रूप का, इन रचनाओं से अच्छा परिचय मिलता है।

भक्तिकाल के पूर्व तक हिन्दी क्षेत्र में भाषाओं की जो यथार्थ स्थिति थी, यदि उसका सही रूप हमारे सामने होता तो हमें आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली या अन्य बोलियां (जनपदी भाषाओं) के क्रमिक विकास पर प्रकाश मिलता।

पर खेद है कि जो रचनायें पूर्ववर्त्ती काल की प्राप्त हैं, वे अधिकतर शुद्ध हिन्दी क्षेत्र के बाहर की हैं या वैयाकरणों की गढ़ी हुई कृत्रिम साहित्यभाषायें हैं। अपभ्रंश तक भाषा संश्लेषात्मक रही है और उनमें संस्कृत की सुप् तिङ् का प्रभाव बना रहा। हाँ, परवर्त्ती अपभ्रंश रचनाओं में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं, जिनसे परसर्गों के उदय, निर्विभक्तिक रूपों के प्रयोग और कर्म वाच्य तथा भाववाच्य प्रणाली के बीज मिलते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की कृत्रिमता इतनी अधिक बढ़ी है कि प्रायः शब्दों के आधुनिक रूप अब भी संस्कृत रूपों के अधिक निकट है आज के पाठकों को अपभ्रंश और प्राकृत को समझना कठिन हैं और उनकी संस्कृतछाया सरल लगती है।*

मेरे विचार में अपभ्रंश के साहित्य पर हिन्दी साहित्य' में विचार नहीं होन चाहिये। अपभ्रंश हिन्दी से पृथक् भाषा है। जिनमें भाषाविवेक है, वे अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान न देंगे।

स्वरों की व्युत्पत्ति

अ—संस्कृत में कर्त्ता एकवचन की विभक्तिसुप् (अस्) है। संस्कृत संज्ञा के तीन अंश होते हैं और तीनों अंशों से युक्त होने पर ही शब्द चलने योग्य (पद) होता है। यथा न र स्–नर्+अ+स्। न र् धातु है, अ प्रत्यय है और स् विभक्ति है। नर्+अ = नर नर को हम प्रातिपदिक कहते हे। नरः नरौ नराः आदि २१ रूपों में नर प्रति पद में दीख पड़ता है। हिन्दी में संस्कृत के कर्त्ता एकवचन रूप ही ग्रहीत हुये हैं यथा गज (पु०) रमा (स्त्री०) फल (फलम् नपु०)। हिन्दी में गजः और नरः नहीं चलते। व्यंजनान्त शब्दों को भी हिन्दी ने कर्त्ता ए० व० रूप में ही ग्रहण किया है। ब्रह्मन्—ब्रह्म, चन्द्रमस् चन्द्रमा, आत्मन्—आत्मा राजन्—राजा।

प्राकृत में वररुचिके अनुसार नियम यह है कि अकारान्त शब्दों के सु (अस्) का ओ हो जाता है। अपभ्रंश में ओ न होकर उ हो जाता है। १४ वीं०

*"यदि यह मान लिया जाय कि उपलब्ध प्राकृत काव्यों में जो भाषा है, वह उस समय की जनभाषा थी, तो इतना कहना पड़ेगा कि वैसी किसी प्राकृत से हिन्दी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उस प्राकृत की अपेक्षा तो संस्कृत ही हिन्दी के अधिक समीप है।" श्री किशोरीदास बाजपेयी (हि०शब्दानुशासन पृ० १३)

शती तक उ रहा—पुरानी हिन्दी में अ के स्थान पर उ मिलता है।* पर हिन्दी में हम अ ही देखते हैं। इस लिये हिन्दी का अकारान्त रूप संस्कृत के ही निकट है। खड़ी बोली में ओ और उ नहीं है। संस्कृत में पुंलिंग शब्दों में एकवचन में विसर्ग की स्थिति रहती है, जैसे गजः हरिः भानुः आदि पर हिन्दी में विसर्ग नहीं चलता। नपुं० लिं० के फलम् ज्ञानम् आदि। को भी हिन्दी ने म् रहित रूप में ही लिया है—फल, ज्ञान आदि। हिन्दी ने ऋकारान्त को भी ग्रहण नहीं किया है। पितृ का पिता, मातृ का माता रूप ही हिन्दी में चलता है। इस लिये माता, पिता, चन्द्रमा नभ, पय आदि को हिन्दी में प्रातिपदिक या शब्द के रूप में लिया गया है। हिन्दी में संस्कृत के नपुं० लिं० शब्द पुं० वर्ग में रख लिये गये हैं।

अत: अ स्वर संस्कृत विसर्ग के स्थान पर आता है। यह सामान्य नियम के रूप में पाया जाता है। गजः—गज

आ भी अनेक शब्दों में तद्भव रूप में अ हो गया है।

यथा—संध्या—साँझ, बंध्या—बाँझ, शाला का साल समास में (यथा घुड़साल टकसाल) शय्या-सेज। निद्रा—नींद। पीडा-पोर। परीक्षा-परख। वार्ता—बात

इ का अ—रात्रि का रात, प्रीति का प्रीत। त्रीणि—तीन चत्वारि—चार ग्रंथि—गाँठ, बुद्धि-बूझ। सन्धि—सेंध मौलि—मौर

उ का अ—मधु का मध-तनु—तन, उक्षु—ईख दयालु—दयाल, बिन्दु—बूँद कमण्डलु—कमंडल

कुछ शब्दों में ओ अथवा औ से अ हुआ है।

ओ का अ—गो—गाय।

औ का अ—गौ—गाय। कुछ लोग गाय को गो और गौ दोनों से गाय मानते हैं। मेरे मत से गौ से गऊ मानना चाहिये।

कुछ ई कारान्त के ई का भी अ हुआ है—भगिनी—बहिन रजनी—रैन, डाकिनी—डाइन, गर्भिणी—गाभिन

---

*सूर, तुलसी तक इस प्रवृत्ति को हम देख सकते हैं।

करिप्रनामु तब रामु सिधाए, रिषि धरिधीर जनक पहिं आये।

बहुरहि लखनु भर तबन जाहीं। सब कर मन सब के मन माहीं।

आ—संस्कृत के अकारान्त शब्दों का तद्भव होने पर अ का आ हुआ है।
घट–घड़ा,

गुच्छ—गुच्छा, वलद—बरधा, गोल—गोला, नील—नीला पक्व—पक्का, पका, चिक्कण—चिकना, यंत्र—जाँता, घन—घना स्फोट—फोड़ा। पत्र—पत्ता। प्रिय—पिया। कूप—कूँआ। शुष्क-सूखा जिह्वा—जीभ। स्कंध—कंधा। स्कम्भ—खंभा।

संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों का कर्त्ता एकवचन रूप यदि आकारान्त है तो उस आ का आ ही रहता है।
राजन्—राजा, आत्मन्—आत्मा,
चन्द्रमस्—चन्द्रमा—चन्द्रमा।

इ—कुछ शब्दों में ई का इ हुआ है। कुमारी—कुँवरि। शब्दों के मध्य में यह विकार प्राय: मिलता है। गभीर—गहिर महा० गहिरा। अल्पोच्चरित होते कभी कभी इ का लोप भी हो जाता है। गहिरा—गहरा दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्स्वस्वर के प्रयोग के कम उदाहरण मिलते हैं।

ई—कुछ इकारान्त शब्द हिन्दी में ईकारान्त हो गये। दधि—दही सखि—सखी अपि का प्राकृत 'वि' और हिन्दी भी 'भी' इसका उदाहरण है अंगुलि—अंगुली उँगली।
कुछ आकारान्त शब्द भी हिन्दी में ईकारान्त होते हैं।
कलिका—कली। ऐसा जान पड़ता है कि का रहित रूप कलि से कली हुआ है।

उ—कुछ आकारान्त शब्द भी ईकारान्त हुये है—जीव जी (तबीयत अर्थ में) घृत घी। कुछ शब्दों में ऐ का ई हुआ है—धैर्य–धीरज।

ऊ—संस्कृत उ का ऊ होता।
अश्रु—आँसू (असू प्रा०)। गुरु–गुरू (बोली में) चक्षु—चक्खू (डेढ़चक्खू) भिक्षु–भिक्खू।

ए—ऐ का ए हो जाता है।
ऐ प्राकृत में भी केवल विस्मयबोधक रूप में रह गया था वह भी केवल कविता में (पिशल)
ऐ का ए हो जाता है गैरिक—गेरिअ (महाराष्ट्री) अर्धमागधी गेरुय। तैल–तेल।

[1]ऐ—ऐका अइ उच्चारण भी कहीं कहीं होता है। चैत्र चैत (चइत)

ओ--संस्कृत औ का ओ होता है। मौत्तिअ (महाराष्ट्री शौरसेनी) जैन महाराष्ट्री में मोत्तिय—मोती हि० धौती--धौती लौह-लौहार गौर-गोरा यौवन-जोबन। सौभाग्य—सोहाग प्रा--सोहग्ग। विकल्प से अल्पोच्चरित ओ का उ--- सुहाग उ ओ-उदंचन-ओरचन।

औ-सं ऊ का औ-भ्रू-भौं। इसके उदाहरण बहुत कम है। कदाचित् भों कुत्ते के शब्द से भेद करने को भौं रूप चला हो।

ऋ—इसका विकास रि में हुआ है।[2]

ऋद्धि—रिद्धि ऋतु—रितु ऋषि—रिषि

वृश्चिक-बिच्छी, बिच्छू। विच्छिअ—अर्धमा०

श्रृगाल—सियाल महा० सिया। श्रृंग—सि० प्रा०, अप०—सींग।

हृदय—हिअअ—हिय

ओष्ठ्य अक्षरों के बाद ऋ का रूप ऊ हो जाता है—पृच्छ—पूछ।

देखिये—प्रा०पुच्छइ—पृच्छति। वृद्ध—बुड्ढ—बुड्ढा।

ऋणम् मागधी में लीणे होता है। इसी लीणे से लेन [लेन देन] निकला हो सकता है। लहना भी इसी लीणे से निकला जान पड़ता है।

वृक्ष से रूख वृ = व + ऋ = ऋ का उ र + उ मिलने से रुख होना चाहिये पर उर्दू रुख से भेद करने के लिये रूख हुआ।

व्यंजनों का विकास

क—क काग—काक-काग (कागा भी 'आ' के योग से) शाक-साग

पाक-पाग (अर्थ में कुछ अन्तर)

प्राकृत में क का ख भी कहीं कहीं होता है। यथा कुब्ज-खुज्ज। कुह—खोह

---

[1]प्राकृत में ही ऐत ओत १/३६ और औत ओत १/४१ के अनु सार ऐ औ का ए ओ हो जाता है।

[2]प्राकृत में इदृष्यादिषु [१/३०] नियम है। ऋषि का इसी। पर हिन्दी में ऋ का रि हुआ है। प्राकृत में ऋत्वादिगण में ऋ का उ विकास होता है, पर हिन्दी में ऐसा नहीं। उदृत्वादिषु १/३१। प्राकृत में ऋ का विकास अ-इ-उ के रूप में हुआ है।

ख—ख कह—मुख—मुँह नख-नहँ (नह) समास में नह ही चलता है-नहरनी, नहघू ।

खघथधभाहः (प्रा० प्र० २ । २७ के अनुसार खघथध का ह होता है ।

ग—ग का घ–ग का कुछ ही स्थलों में घ होते देखा गया है ।*

श्रृंगाटक–सिघांडग अ०मा० (सिघांड़ा) ग्रस्–घिस

घ—घ का ग—घर्म गर्म (फारसी से होकर आया है ।) घाम (अर्थान्तर में)

घ का ह—मेघ-मेह । निदाघ (निदाह–ब्रज) प्राघुण–पाहुन

ङ—ङ का अनुस्वार ।—पंचम वर्णों का योग व्यंजनों से होता है । ङ् ञ् ण न् म् का विकल्प से अनुसार होता है ! कहीं कहीं अनुनासिक भी गङ्गा—गंगा ।

च—च का ज—कुंचो—कुंजी ।

कहीं कहीं च का छ भी होता है । क्वचित्—कुछ । त् का लोप

छ—छ का छ—छत्र—छाता (त्र के संयुक्त होने के कारण पूर्व स्वर का दीर्घ रूप)

छ का स—छर्दि—सर्दी । सर्दी फारसी है इस लिये सर्दी को फारसी से होकर आया भी मान सकते हैं। इसकी व्युत्पत्ति शरदी से भी बताई जा सकती है। शरत् में ठंढ पड़ने से सर्दी, ठंढ से होने वाला रोग । फारसी में छ का स हो जाता है ।

ज का झ । कुछ शब्दों में ज का झ होता है । मज्जा—माझा 'नई जवानी माझा ढील'

ज—ज का य । फारसी में ज का य होता है । जार—यार । यार फारसी से होकर आया है । यह सं० जार से सम्बद्ध जान पड़ता है ।

ज का झ—जूट (जटाजूट में) का झोंटा । जुष्ट—झूठ ।

---

*वर्गीय तृतीय वर्ण शायद हो कभी चतुर्थवर्ण में बदलता है ।

ञ—ञ् का अनुस्वार। ञ् का योग किसी व्यंजन से होता है।
चञ्चल—चंचल

ञ् का अनुनासिक अञ्चल—आँचल चञ्चु—चोंच पञ्च—पाँच मञ्च—मँच (मँचिया) कुञ्ज—कुँज (कुँजड़ा—कुँज+ड़ा) कहीं कहीं ञ् का लोप भी—मञ्जिष्ठा—मजीठ

ट— ट का ड—वट—बड़, वटी—बड़ी, कीट—कीड़ा वट—बड़। खटिका—खड़ी,—खड़िया।

ड का ड़, ड़ का ट, र का ल ऐसे परिवर्त्तन प्रायः देखे जाते हैं। प्राकृत का एक सूत्र है तोडः (२/२०) प्राकृत में ट का ड विकास होता है वट—बड़ कुटिल—कुडिल। जटित—जड़ित जट्—जड़

ठ का ढ—पठ्—पढ़्। पठन—पढ़ना। ठोढ़: सूत्रानुसार।
ठ का ट—कभी कभी ठ का ट भी

लुंठन—लूटना। कदाचित् अनुस्वार के प्रभाव से महाप्राण अल्पप्राण में बदल गया।

ड—ड का ड़—नाडी—नाड़ी दण्ड—दाँड (ग्राम) अण्ड—आँड। चंड—चाँड़। शुण्ड—सूँड। मुण्ड—मुंड—मूँड़।

ड का ल (संख्यामें)—षोडस—सोलह। र, ल, ड़ में सादृश्य है। ड का र भी होता है। पीडा—पीर। कहीं कहीं ढ भी होता है। षण्ड—साँढ़

ढ—ढ का ढ़ दाढ़िका—दाढ़ी—(दाढ़+ई)
ण—ण का न गुण—गुन, तृण—तिन कण—कन, फण—फन स्वर्ण—सोना माणिक्य—मानिक शोण—सोन कोण—कोना। लवण—लोन

त—त का व—घात—घाव।
थ—थ का ह कथ—कह। कथन-कहना। क्वाथ—काढा। गाथा-गाहा नाथ—नाह। मथन—महना (दही महना)
थ का ध—विथुर—विथुरा (आ पुं० विभक्ति के योग से) (श्री किशोरीदास के अनुसार)

द—द का ध—दीप--धीप दीप्यते प्रादिप्पइ—धिप्पइ।

ध—ध का ह दधि—दही, बधू—बहू क्रोध—कोह (प्राचीन) बधिर—बहिर, गोधा—गोह

ध का द—बंध—बाँध, बंद भी (वंद फारसी से होकर आया है।)

न—न का अनुस्वार या अनुनासिक कहीं कहीं होता है।

ननद—ननँद। आनन्द—आनँद (प्राचीन काव्य)

प—प का व—दीप का दीवा (विकल्प से दीया) आ० पु'०वि०

अपर का अवर (और)

प्राकृत में भी पो व: (२१ ५५ प्रा० प्र०) होता है।

प का फ—पनस—प्रा० फणस—फालसा आ पु'० वि०

फ का ह—शफरी—सहरी। गुफा—गुहा।

ब— बहुत कम स्थानों पर व का भ हुआ है।

बुक्क—भूक (ना)—बुक्कइ—भुक्कइ पु

भ—भ का ह शाभन—सोहन। क्रिया सोहाना या सुहाना। गभीर—गहरा

सौभाग्य—सुहाग। भंड—हंडा।

भ का म्ह कुम्भकार—कुम्हार।

म—म का व। ग्राम का गाँव। रोम—रोंवा। धूम—धूँआ, धूँवा

कहीं य श्यामल—साँवला। वाम—बाँया। व नमाली—बनवारी।

य—य का ज। यमुना—जमुना। यतन—जतन। यव—जव (जौ) यूथी—जूही

अंतिम य का कभी कभी लोप होता है। कभी ई का आगम।

विक्रम—विक्री। पारस्य—पारस। कस्य—किस कहीं कहीं य का ल हुआ है। यष्टि—प्रा० लट्ठि—लाठी (यष्ट्पांल:)

र—ट का ल—रुंड—लुंड।

र का ड़ कर्पर—कपड़ा, खर्पर—खपड़ा, खप्पर।

गिट्—गिड़ (गिड़गिड़ाना में) भीर—भीड़

ल—ल का र बाल—बार मौलि—मौर। लोम—रोम लांगूल—लंगूर। कवल कवर (कौर)

व—व का ब वीर—बीर, वल्कल—बोकला वंशी—बंसी

वेल्लन—बेलन, वेला—बेला (बेरा), वलद (बरधा)

श—श का स श्याला—साला। क्रोश—कोस। शूली—सूली शूर—सूर।

शौच—सोच। शैवाल—सेवार। शोषण—सोखना।

यरलव में य व और र ल को एक साथ रख कर विचार किया जाना चाहिये। कहीं य के स्थान पर व और कहीं व के स्थान पर य भी होता है। र ल में सादृश्य प्रसिद्ध ही है—नारी, नाली कारी, काली। इ का य से और उ का व से सम्बंध है।

श का ह—संख्याओं में—दश—दह (दहला में) द्वादश—बारह त्रयोदेश—तेरह, चतुर्दश—चौदह विश्न—बिहान

ष—ष का स मूषक (क प्रत्यय)—मूस। चोप—चूस मानुष—मानुस (भलामानुस, बनमानुस में) कृषाण—किसान। वर्ष—बरस मागधी में ष का श—पुरुषः—पुलिश।

ष का ख वर्षा—बरखा विष—बिख कलुष—कालिख शुष्—सूख

ष का ह हर्षित—हरखित पुष्प—पुहुप (प्राचीन हिन्दी)

स—स का ह सिन्धु—सिन्ध, हिन्द,

ह—ह का घ सिंह—सिंघ

:—विसर्ग का लोप—दुःख—दुख

पुं० लिंग अकारान्त के परे विसर्ग का लोप या आ होता है।

नरः—नर, गजः—गज

मिष्ट—मीठा, शिष्ट—सीठा

रिक्त—रीता, तिक्त—तीता

हल का लोप ब्रह्मन्—ब्रह्म मनस्—मन। व्यंजनान्त शब्दों के कर्त्ता एकवचन रूप को हिन्दी ने ग्रहण किया है। राजन्—राजा आत्मन्—आत्मा।

संयुक्ताक्षरों के तद्भव रूप

क्त—क्+ इसका तद्भव होने पर कभी दो वर्ण पृथक् हो जाते हैं और कभी त मात्र रहजाता है। भक्त—(भात के अर्थ में) भात बनता है। यहाँ क् का लोप होजाता है। कभी यह भगत (क का ग होकर) रूप पाता है। एक ही शब्द का अनेकधा विकास होता है, प्रायः अर्थान्तर सूचित करने के लिये।

रिक्त—रीता, तिक्त—तीत।

संयुक्त वर्ण प्रायः पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बना देता है।

क्र — क्+र चक्र का चाक। क्र में क सबल पड़ता है र दुर्बल। व्यंजन से अन्तस्थ दुर्बल होता है, अतः र का लोप। अर्थान्तर में चक्कर भी तद्भव होता है। इसी ढंग पर तक्र का तक्कर। अर्थान्तर में चक्का भी होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चक्र से चाक, चक्का और चक्कर तीन रूप होते हैं, पर इनमें अर्थभेद है।

अन्य उदाहरण—क्रिया—किरिया। क्रूर—कूर। क्रोध—कोह (प्रा० हि०) क्रोश—कोस।

कृ — क्+ कृपण—किरपिन (ग्राम्य) कृपा—किरपा। कृष्ण—किशुन, किशन (किशनचन्द्र) ऋ का उच्चारण रि की तरह होता है और क के साथ जुड़ने पर किर (क्+इर) हो जाता है। कृष्ण का एक तद्भव रूप कान्ह, कान्हा और गुजराती में कनु भी होता है। कान्ह में ऐ या जुड़ने से कन्हैया रूप भी प्रसिद्ध कन्हाई (कान्ह+आई) भी एक तद्भव रूप है। भारती के काव्य कनुप्रिया में 'कनु' गुजराती रूप भी आ गया है।

क्य — क्+य क्य का क होता है। अन्तस्थ य अबल पड़ने से लुप्त हो जाता है।

माणिक्य—मानिक। पारस्य—पारस।

क्व — क्+ व अन्तस्थ है अतः अबल होने के कारण उसका लोप। क मात्र रह जाता है। पक्व—पका, पक्का।

क्ल — क्+ल क और ल दोनों पृथक् हो जाते है शुल्क—सुकुल। पूर्ववर्त्ती उकार का प्रभाव परवर्त्ती क में उकार ला देता है।

क्ष — क्+ष क्ष का छ और कहीं कहीं ख भी होता है।

क्षत्रिय—छत्री, खत्री। लक्ष्मी—लछमी। पक्ष-पंख, पंख, पच्छ।
क्षुर—छुरा, क्षीर—खीर, छार। रक्षा—रच्छा, रखा।
क्षार—छार, खार। रूक्ष—रूखा। साक्षी—साखी।
क्षण—छन, क्षीण—छीन। शिक्षा—सीख भिक्षा—भीख।
कहीं कहीं क्ख और कहीं ह मात्र—यथा दक्षिण—दक्खिन, दाहिना दाहना। द्राक्षा—दाख, परीक्षा—परख

ख—

ख्य—ख्+य इसमें ख प्रबल पड़ता है। मुख्य—मुखिया (मुख्+इया)
व्याख्यान—बखान।

ग—

ग्घ—ग्+घ महाप्राण अल्पप्राण से प्रबल हैं अतः ग का लोप। दुग्ध—दूध।

ग्न—ग्+न ग् और न दोनों अलग-अलग बने रहते हैं।

मग्न—मगन। लग्न—लगन।

ग्र—ग्+र र अन्तस्थ होने के कारण अबल है, अतः ग ही रह जाता है।

ग्राम—गाँव। ग्रंथन—गठना। ग्रंथि—गाँठ। अग्र—आगे।
ग्र का ग ही होता तो आग हो सकता था। अतः भ्रम हो सकता था। फिर यह अग्र अव्यय है, जिसकी पहचान के लिये ए लगता है। देखिये धीरे, पीछे आदि।

ग्य—ग्+य य अबल होने के कारण ग ही रह जाता है। भाग्य—भाग।

अभाग्य—अभाग, अभागा (वि०)

गृ—ग्+ऋ गृ का ग या गि। ऋ का लोप या र् ध्वनिका स्थानान्तर गृह—घर। गृध—गिद्ध

गृह = ग् + ऋ + ह्अ = ग्+ह+र्+अ = घर

घ्र—घ्+र महाप्राण सबल होने से रह जाता हैं र का लोप।

व्याघ्र—बाघ। व्य में य का अन्तःस्थ होने से लोप। व का ब।

घृ—घ्+ऋ ऋ का इ या ई

घृण—घिन। घृत—घी।

ङ—ङ न पर साथ विचार होगा।

च—च्+य का च रह जाता है, य का लोप

च्युति का चूत (अन्त्य इ का प्रायः लोप हो जाता है जैसे रात्रि-रात, ज्योति जोत आदि में)

च्छ—च् + छ। च्+छ दोनों रह जाते हैं।

अच्छ—अच्छा (विशेषण में आ प्रत्यय)

ज—ज्ज—ज्+ज्ज। दो ज्ज के स्थान पर एक ज रह जाता है।

लज्जा—लाज। सज्जा—साज।

ज्य—ज्+य। य का लोप। ज का ही रहना।

ज्योतिषी—जोतिसी। ज्योति—ज्योत। ज्येष्ट—जेठ, जेठा, ज्वर—जर (ग्राम्य) ज्वलन—जलना।

ज्ञ—ज्+ञ। ज रह जाता है। ज्ञ का उच्चारण ग्य कीत रह होता है अतः ग भी। ज्ञान—जान, ग्यान।

त्त—त—त्+त दो त के स्थान पर एक रह जाता है। मत्त का मत (मतवाला)

त्न—त्+न। त न अलग अलग रहते हैं।

रत्न—रतन यत्न—जतन।

त्य—त्+य। इस संयुक्त वर्ण का च हो जाता है। कहीं कहीं य का लोप मात्र होता है सत्य—सच मृत्यु—मीच

नित्य—नित। (शायद इस लिये कि च होने से अर पूर्ववर्त्ती इ को ई करने से 'नीच' तत्सम से भ्रम हो जाता।

त्र—त्+र। र का लोप हो जाता है और त रहता है।

गात्र—गात। सूत—सूत। पुत्र—पूत। मित्र—मीत। मूत्र मूत।

क्षेत्र—खेत। वेत्र—बेंत। यंत्र—जाँता। रात्रि का रात।

त्र का तर—मंत्र—मंतर, यंत्र—जतर।

पवित्र—पवित्तर (ग्राम्य) चरित्र चरित्तर (ग्राम्य)

द्+य। द-य का लोप द् का रहना। द्युति—दुति।

द्र—द्+र र का लोप, द का रहना।

द्रव्य—दरब। द्राक्षा—दाख। द्रोण—दोना।

द्व—द्+व। द्वार—दुआर। द्वितीया—दूज * (य का ज)।

दृ—द्+ऋ। ऋ का इ या ई होना।

दृष्टि—दीठ। दृश्य—दीस (ना—दीखना) दीसना प्रा० हि० में दीखना के अर्थ में आता है।

द्य—द्+य। दोनों के स्थान पर ज होते देखा जाता है। द्य—आज।

---

* द्वि का द्, य का ज। तीन और तीन से अधिक वर्णों के शब्द में संक्षेपत्व की विधि तद्भव रूपों में देखी जाती हैं। इस प्रवृत्ति पर आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा। संख्यावाचक शब्दों में द्वि के अनेक रूप होते हैं दो, बा, ब दु आदि।

गद्य पद्य आदि शास्त्रीय शब्दों के तद्भव रूप नहीं मिलते चूंकि बोल चाल में इन शास्त्रीय शब्दों का काम नहीं पड़ता। प्राकृत में द्य का ज होता है होने। विद्या – विज्जा।

द्ध – द्+ध। महाप्राण की प्रबलता के कारण केवल ध रह जाता है। कहीं-कहीं झ भी होता है। सीधा सीझ (सीझना) बुद्धि – बूझ। गृद्ध – गीध। बद्ध – बझ (बझना)

द्म – द्+म। पद्म से पदुम (संख्या अर्थ में) पदुम कमल अर्थ में प्राचीन हिन्दी में आया है। बन्दौं गुरु पद पदुम परागा।

ध – ध्य – ध्+य। ध का तद्भव झ और य का लोप। अनुस्वार का प्राय: अनुनासिक। संध्या – साँझ, मध्य – माँझ।

उपाध्याय का झा और ओझा। अनेक शब्दों को लघु रूप देने के लिये उपसर्ग को छोड़ दिया जाता है। * अत: उप का लोप। ध्यका झ। उप का ओ अनध्याय का अंझा। अन का अं, अंतिम य का लोप।

ध्व – ध्+व। व का लोप। ध रह जाता है।

ध्वस – धँस (धँसना) ध्वज – धजा, धुज। व के प्रभाव से उ। ध्वनि – धुन।

धृ – ध्+ऋ। ऋ का ई।

धृष्ट – ढीठ। परवर्त्ती ष की ह ध्वनि का प्रभाव तवर्गीय चतुर्थ वर्ण को टवर्गीय चतुर्थ वर्ण में बदल देता है।

प – प्+त। दोनों वर्णों का पृथक्-पृथक् होना।

गुप्त – गुपुत। गुपुत प्रा० हि० में आता है। गुपुत प्रगट जँह जो जेहि खानिक'-मानस

प्न – प्+न। दोनों वर्णों का पृथक्-पृथक् होना। स्वप्न-सपना।

प्र – प्+र। दोनों वर्णों का पृथक् – पृथक् होना। कहीं-कहीं र का लोप। -प्रसार – पसार। प्रस्तर – पत्थर। प्रहेली – पहेली। प्रोक्षण – पोंछना। प्रेक्षण – पेखना। प्रसाद – परसाद। (ग्राम्य) प्रयाण। प्रपौत्र – परपोता। प्रस्वेद – पसेउ (प्रा० हि०) प्रकोष्ठ – परकोटा। प्रजा – परजा। प्रतीति – परतीति

---

* उपसर्ग को हटा कर भी प्रकृत्यंश से तद्भव हुए है। प्रणाली – णाली – नाली।

प्ल — प्+ल । दोनों वर्णों का अलग होना । प्लीहा — पिलही ।
फ — फ ही रहता है ।

ब — ब्द — द्+द । दोनों वर्ण अलग-अलग हो जाते हैं । शब्द — सबद (प्र० हि०)

ब्ध ब्+ध । दोनों वर्ण अलग-अलग हो जाते हैं ।

प्रारब्ध — परालबध, परारबध (ग्राम्य) ऋ का लोप ।

बृ — ब्+ऋ । बृहत् — बहुत ।

ब्र — ब्+र । र का लोप । ब का रह जाना

ब्राह्मण — बाँभन । (ब्राह्मण और भूमिहार दोनों अर्थों में प्रयुक्त ।)

भ — भ्र — भ्+र । भ और का पृथक्-पृथक् होना । कभी केवल भ रह जाना । भ्रम — भरम । भ्रमर — भंवरा, भँबर (जल में भ्रू — भौं)

र — र्क र्ख र्ज आदि । जब र किसी वर्ण के ऊपर रहता है तो उसका उच्चारण उस वर्ण से पूर्व होता है । तद्भव में प्राय: र अलग हो जाता है । कहीं-कहीं र का लोप भी होता है ।

कर्कट — केकड़ा । मूर्ख — मूरख । स्वर्ग — सरग । मार्ग — मारग । अर्ध — अरध । कूर्चिका — कूँची । मूर्छा — मूरछा । मूर्च्छना — मुरझाना । मार्जन — माँजना कर्ण — कान । चूर्ण — चूरन, चूरा, चूना । ऊर्ण — ऊन । मूर्ति — मूरत । कार्तिक — कारतिक, कातिक । अर्थ — अरथ । कूर्दन — कूदना । दर्दुर — दादुर । अर्ध — अरध, आधा, अद्धा, । सर्प — सरप, साँप । कर्पास — कपास । कर्पूर — कपूर । चर्पट — चपत । पर्पटी — पपड़ी । निर्बल — निरबल, निबल । दर्भ — दाभ । गर्भिणी — गाभिन । मर्म — मरम । कार्य — काज । मर्यादा — मरजादा, मरजाद । पूर्व — पूरब । पर्वत — परबत । निर्वाह — निबाह । वर्ष — बरस । बर्ही — बरही (मोर) ।

ल — ल्ग — ल्+ग । ल का लोप । ग रह जाता है ।

फाल्गुन — फागुन । वल्गा — बाग (बागडोर)

ल्प — ल्+प । ल का लोप । प रह जाता है । गल्प — गप, गप्प ।

ल्य — ल्+य । य का लोप । ल रह जाता है ।

कल्य — कल । तुल्य — तूल । मूल्य — मोल (मूल इस लिये नहीं चूँकि तत्सम से भ्रम हो सकता था)

ल्व – ल्+व। व का लोप। ल रह जाता है। विल्व – बेल। (इ का ए) *

ल्ल – ल्+ल्। एक ल रह जाता है।

भल्ल – भाला। भल्लू (क) – भालू। गल्ल – गल। फुल्ल – फूल।

कुल्ली – चूल्ही। एक (अन्तस्थ के स्थान पर दूसरे अन्तस्थ का (ह) आगम) किल्लोल – किलोल। हिल्लोल – हिलोर।

व—व्य – व्+य। य का लोप। व का ब।

व्याख्यान – बखान। व्यतीत – बीत (बीतना)

व्यजन – बिजन (पंखा) प्रा० हि०

बिजन डुलावत जे ते बिजन डुलावत हैं।-भूषण।

व्यथा – बिथा। व्यक्ति – बेकत (ग्रामीण) व्याघ्र – बाघ

श्म—श्+म। श का लोप। म रह जाता है। श्मशान – मसान। श्मश्रु – मूँछ।

श – श्य – श+य। य का लोप। केवल स (श के स्थान पर) रह जाता है।

श्याला – साला। शाल्मली – सेमल, सेमर। श्यामल – साँवला।

श्व—श्+व। व का लोप। श का स। श्वसुर – ससुर। श्वास साँस (यहाँ अनुसार कदाचित् 'सास' से अन्तर के लिये आया है। श्वश्रू – सास, सासु (प्रा० हि०) श्वेत – सेत।

श्र—श्+र। दोनों वर्ण पृथक् हो जाते हैं। र का कहीं-कहीं लोप। स रह जाता है।

श्रावण – सावन। श्राद्ध – सराध्। श्रीफल – सिरफल।

श्रवण – सुन (सुनना) व के प्रभाव से उ।

नि:श्रेणी – नसेनी। श्रेष्ठ – सेठ। शृंगार – सिंगार।

शृगाल – सियार। शृंग – सींग। शृंखला – शृंक- संक) – सिंकड़ी। श्री – सिरी—मौलिश्री – मौलसिरी।

ष—ष्क – दोनों के स्थान पर ख। ष का क से संयोग होने पर क में महाप्राणत्व आ जाता है।

शुष्क – सूख (सूखना) सूखा। पुष्कर – पोखर प्रा० पोक्खर पर।

ष्ठ – ष् – ठ। ष् का लोप। ठ रह जाता है।

---

* अनेक तद्भवों में मूल स्वर के स्थान पर उनके गुण रूप आते हैं।

षष्ठ – छठा (छठवाँ – वाँ का आगम यहाँ पाँचवाँ, सातवाँ आदि के सादृश्य से हुआ है।) षष्ठी – छठ, छठी।

कोष्ट – कोठा। मुष्टि – मुट्ठी, मूठो, ओष्ठ – ओठ। विकल्प से होठ भा ज्येष्ठ – जेठ। काष्ठ – काठ। गोष्ठ – गोठ जुष्ट – जूठा।

ष्ण—ष्+ण। ष्ण का सन हो जाता है।

कृष्ण – किशुन, किशन। विष्णु – बिशुन। कृष्ण का तद्भव विकास कान्ह, कान्हा, कन्हाई, कन्हैया के क्रम से भी हुआ है। कनु – गुजराती में। कनु प्रिया' में कनु का प्रयोग धर्मवीर भारती ने किया है।

ष्य—ष्+य। ष का ह भी होता है।

पुष्प—पुहुय। वाष्प – भाप। बाफ (ग्राम्य)

ष्म – ष्+म। ष का ख और स् भी।

ऊष्म—ऊखम। ग्रीसम का ग्रीष्म (ग्राम्य)

ष्य—ष्+य। य का लोप। ष का स। मनुष्य—मानुस

स—स्क – स्+क। आद्य स् का प्रायः लोप। अन्य व्यंजनों के साथ संयुक्त होने पर भी। स्कंध – स्कंभ – खंभा।

स्त—स्+त। स्त का थ स्तन – थन। स्तभ – थाँम (थाँमना) हस्त – हाथ (प्र० हत्थ)

स्थ—स्+थ। स्थल – थल। स्थान – थान, 'थान' स्थान अर्थ में भी आता है, जैसे माई थान। स्थाली – थाली। स्थापना – थापना।

स्न—स्+न। स् का लोप। कहीं-कहीं स्थानान्तर भी।

स्नेह – नेह। स्नान – नहान।

स्प—स् + प। स् का लोप। प रह जाता है।

स्पर्श – परस। स्पर्श (मणि) – पारस

थफ—स्+फ। स् का लोप। फ रह जाता है।

स्फोट – फोड़ा। स्फाटिक – फटिक, फिटकिरी। स्फुट – फूट। स्फुरण – फुरना।

स्म—स्+म। स् और म का अलग-अलग हो जाता।

स्मरण – सुमिरन स्य—स्+य। स्यात् से शायद निकला है पर यह फारसी होकर आया है। क्योंकि स् का श तद्भवों में नहीं दीखता

ह्म—ह्+म। वर्ण विपर्यय से म्ह हो जाता है।

ब्राह्मण – बाभन। प्राकृत में म्ह ब्राह्मणः बम्हण

ह्र—ह्+र। र का लोप। ह्रद—दह (वर्ण विपर्यय से) ह्रास—हरास (ग्राम्य)

ह्ल—ह+ल। ह् और ल अलग-अलग हो जाते हैं। प्रह्लाद—प्रहलाद।

पंचम वर्णों से बने संयुक्ताक्षरों के तद्भवं रूप

पंचम वर्णों—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्—का विकल्प से अनुस्वार में परिवर्त्तन होता है। तद्भव रूप में अनुस्वार का प्रयोग होता है। दीर्घ स्वर पर अनुस्वार का कहीं-कहीं अनुनासिक हो जाता है।

ङ— ङ्क ङ्+क। अंक—आँक आँकना)

ङ्ख ङ्+ख। पंख—पाँख

ङ्ग ङ्+ग। अंगन—आँगन

ङ्घ ङ्+घन। लंघन—लाँघना

ञ—ञ्च ञ+च। अंचल—आँचल। पञ्च-पंच—पाँच। चञ्चु—चंचु—चोंच। कञ्चुक—कंचुआ (एक प्रकार की चोली)

ञ्ज—ञ+ज। पुंज—पूंजी (पूंज+ई) रंजन—रंगन।

ञ्ज का ग भी होता है।

अंड—अडा-मुंड भूंड़, शुंड—सूंड। खंड-खांड़। मंडप—मंडवा।

ण—ण्ड-ण्+ड चंड—चांड़, चंट भी इससे ही निकला जान पड़ता है।
ट का ड होता है। रंडा—रांड़।

ण्ट—ण+ट। घंट—घंटा। कंट (क)—कांटा।

ण्ढ़—ण्+ढ। ढुंढि—ढोंढ़ी। ढूंढ़ी शायद इसलिये नहीं हुआ चूंकि ढूंढ़ी क्रियापद से भ्रम हो सकता था।

न—न्त—न्+त। दंत—दाँत। दन्त—अंतिम संयुक्त वर्ण के प्रभाव से आद्य अ का दीर्घ। कुछ प्रसिद्ध धार्मिक शब्द के तत्सम रूप ही चलते हैं—जैसे सन्त। कान्त का कंत होता है कंत का एक रूप कंता भी चलता है 'जैसे कंता घर रहें तैसे रहे विदेस।'

न्थ—न्+थ। न का अनुनासिक। थ का रह जाना। कभी ठ में बदल जाना।

ग्रन्थ—ग्रंथ—गांठ (गांठना) ग्रन्थि—ग्रंथि—गांठ (अंत्य इ का लोप) यह गांठ संज्ञा है।

न्द—न्+द। अनुस्वार का अनुनासिक

चन्द्र-चंद्र — चाँद। मन्द-मंद—माँदा (वि०) तुन्द-तुंद—तोंद।

न्ध—न्+ध। अनुस्वार का विकल्प से अनुनासिक होना।

बन्धन-बंधन—बाँधना। कंध-कंधा, काँधा। सन्धि-सेंध।

न्न—न्+न। एक न का लोप। अन्नादि या अन्नाद्य—अनाज।

न्य-न्+य। दोनों वर्ण अलग-अलग हो जाते हैं। जन्म-जनम। मन्मथ-मनमथ।

न्श—न्+श। न का अनुस्वार, विकल्प से अनुनासिक।

वंश-बंस—बाँस। दंश—डस (तवर्गीय तृतीय वर्ग का टवर्गीय तृतीय में परिवर्त्तन)

म्प—म्+प। म् का अनुस्वार, कभी कभी अनुनासिक।

कम्प-कप—काँप (काँपना) झम्प-झंप—झाँप (झाँपना), झाँपी संज्ञा=झाँप्+ई।

म्ब—म्+ब। म् का अनुस्वार

लम्ब-लंब—लंबा, लाँबा।

कभी-कभी म्ब का म्मा होता है। अम्बा—अम्मा।

म्भ—म्+भ। म् का अनुस्वार। स्कम्भ-स्कंभ्—खंभा, खंबा।

म्र—म्+र। र का लोप। आम्र—आम। ताम्र-तामा, ताँबा।

म्ल—म्+ल। दोनों वर्णों का अलग-अलग होना। म्लेच्छ—मलेछ।

म+ऋ। ऋ का इ। मृतक-मिरतक (ग्राम्य)

तद्भव रूपों मे अनुनासिकता

अनेक शब्दों के विकास को देखने से ज्ञात होता है कि जहाँ संस्कृत में अनुस्वार है वहाँ तद्भवरूप में अनुनासिक हो गया है। पंचमवर्णों के योग से बने संयुक्ताक्षर अनुस्वार से भी विकल्प से लिखे जाते है। अङ्क—अंक, अञ्चल—अंचल, मुण्ड—मुंड, दन्त-दंत, कम्प—कंप। इनके तद्भव रूप हैं अाँक, आँचल, मूँड, दाँत, काँप। ऐसे स्थलों पर अनुनासिक का कारण मूल में अनुस्वार है और स्वर का दीर्घरूप ग्रहण करना। पर ऐसे सैकड़ों तत्सम शब्द है, जिनमें अनुस्वार मूल में नहीं है पर तद्भव में अनुनासिक हो

गया है। इस अनुनासिकता (Nasalization) का कारण क्या है? यह विचारणीय है।

नीचे हम ऐसे शब्दों की एक सूची देकर उनमें अनुनासिकता (ँ) के आने के कारणों की संभावना पर विचार करेंगे।

सर्प—साँप भ्रू—भौं श्वास—साँस ग्राम—गांव, कूप—कूआँ, कुआँ कुँवा। यू का जूँ, पुच्छ—पूँछ, आम—आँव, अक्षि—आँख, छाया—छाईं (परछाईं) अश्रु—आँसू पक्ष—पाँख कर्कर—कंकड़ काँकर, कुमार—कुँवर, कमल—कवँल

इन रूपों में अनुनासिकता को अकारण माना गया है। जहाँ मूल में अनुस्वार है और तद्भव में उसके प्रभाव से अनुनासिक हो गया है तो ऐसी अनुनासिकता को हम 'पराश्रय-अनुनासिकता' कह सकते हैं। जहाँ तत्सम में अनुस्वार नहीं है फिर भी तद्भव में अनुनासिकता आ गई है तो ऐसी अनुनासिकता निराश्रय अनुनासिकता है। इसी को कुछ विद्वान् अकारण अनुनासिकता कहते हैं। अकारण कोई कार्य नहीं होता। ऐसे स्थलों पर अनुनासिक आने का कोई कारण अवश्य होना चाहिये

शब्दों का विकास इस प्रकार होना चाहिये, जिससे स्पष्टता और सरलता के साथ-साथ किसी अन्य शब्द के साथ भ्रम न हो। यदि किसी अन्य शब्द का तद्भव भी वैसा ही रूप प्राप्त करता है तो हिन्दी की प्रवृत्ति यह रही है कि दोनों में भेद करने के लिये अनुनासिक कर दिया गया है। किसी किसी शब्द का द्विधा या अनेकधा विकास हुआ है।

सर्प—साँप, सरप।

साँप में अनुनासिक का कोई कारण नहीं जान पड़ता। पर यदि यह न रहे तो तद्भव साप हो जायेगा। अब साप शाप का भी तद्भव है, जिससे भ्रम की संभावना सहज है। हमारा अनुमान है कि साँप में अनुनासिक इस भ्रम की संभावना को दूर करने के लिये है। श्वास का तद्भव साँस न होकर सास होता तो सास (पत्नी की माता) से भेद कैसे ज्ञात होता?

पुच्छ का तद्भव यदि पूछ होता तो पूछ (पूछना का क्रियामूल स्टेम) से भेद कैसे किया जाता? भ्रू का तद्भव यदि भौ या भो होता तो कुत्ते के शब्द भो-भो के निकट होने से भद्दा हो जाता अतः भौं। ग्राम में म का प्रभाव पड़ने से गाँव में अनुनासिक आया है। आम आम्र का तद्भव है। अतः

ग्राम तत्सम का तद्भव रूप भिन्न होना ही चाहिये। इसलिये ग्राम का गाँव। जूँ यूका से निकला है। का प्रत्यय हटने पर यू रह जाता है जिसका तद्भव जू होता। पर चूँकि 'जू' आदरार्थक शब्द बड़ों और श्रीमानों के लिये चलता अतः ज के साथ अनुनासिक का प्रयोग। अक्षि और अश्रु के तद्भव आँख और आँसू में अनुनासिक के आने का कारण यह है कि क्रन्दन की क्रिया में जो ध्वनि उठती है उसे सूचित करने के लिये अनुनासिकता लाना आवश्यक हो गया। म के स्थान पर अनुनासिक आता है। ऐसे ही खाँसी शब्द को देखें। कास से खास, फिर ई के योग से खास+ई=खासी। खाँसी में जो गले से शब्द होता है उसे सूचित करने के लिये ही कदाचित् खाँसी में अनुनासिक लगता है। कूप (कूपम्) का कुआ, या कुवा न हो कर कुआँ या कुवाँ होता है कूपम् के के प्रभाव से। कुमार का कुंवर और कमल का कँवल होता है। म के प्रभाव से ही अनुनासिक आता है। परछाई में अनुनासिक भी छाईं से भ्रम न हो, इसीलिये जान पड़ता है। इस प्रकार अनेक तद्भवों में अनुनासिकता के आगम का कारण सोचा जा सकता है। इन्हें अकारण कहना तो ठीक नहीं है।

संस्कृत उपसर्गों के तद्भव रूप

संस्कृत उपसर्गों में केवल उत्, दुर् या दुस्, परि, वि और प्र का विकास हुआ है।

उत् का केवल उ रह गाया है। त् का लोप हुआ है। उ को हिन्दी का उपसर्ग कह सकते हैं।

उज्ज्वल (उत्+ज्वल)—उजला, उद्धार (उत्धार)—उधार

इसी प्रकार उत्थान—उठान। उद्घाटन (उद्-घट्—उधड़) उधड़ना

उच्चाटन—उचटना। उच्चाटण—उचाटना। उच्छलनं—उछलना।

उत्तान—उतान।

कुछ सोपसर्ग संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप मिलते हैं। प्रायः उपसर्ग रहित रूपों से ही तद्भव रूप विकसित हुये हैं। किन्तु तद्भव शब्दों का विकास सोपसर्ग रूपों से हुआ है।

दुर् या दुस् (दुः) का दुर या दु हुआ है। दुर्योधन—दुरजोधन।

दुर्लभ – दुरलभ, दूल्हा (प्रा० दुल्लह)—अर्थान्तर में। दुर्बल—दुबला।

परि का पर। परिकोट—परकोटा। परिचग्रन—परचना।

परिछाया—परछांई। परीक्षण (परि+ईक्षण)— परछन। कुछ विद्वान् परिग्रर्चन से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। परीक्षा—परख। परिवेशी — पड़ोसी।

प्र का पर या प। प्रलय—परलय। प्रपंच—प्ररपंच, प्रजा—परजा।

प्रक्षालन—पखारना। प्रथम—पहला। (प्रथ से पह फिर ला हिं० प्रत्यय)

प्रोक्षण—पोंछना। प्रौढ—पोढ़-पोढ़, वि का बि। विहार--बिहार

निर का नि; निर। संस्कृत नि उपसर्ग से हिन्दी नि का कोई सम्बन्ध नहीं है।

निर्बल— निबल। निर्गुण—निरगुन। निर्घृण—निरघिन। निर्दय—निरदई। निर्लज्ज--निलज। निर्वाह--निबाह।

निस् (निः) का नि- निष्ठुर—निठुर, निश्शंक—निसंक। निःशक्त —निसक। निर्मल—निरमल। निश्चिन्त—निचित।

निस् (निः) का निह — निष्फल—निहफल (ग्राम्य) कहीं कहीं निःका नि — निःश्रेणी—निसेनी।

इसी प्रसंग में कुछ उपसर्ग के समान प्रयुक्त होने वाले शब्दों के विकास पर विचार किया जा सकता है।

स्व—स्व का सु या स में विकास हुआ है।

स्वरूप—सरूप। स्वराज—सुराज। स्वदेशी—सुदेसी। स्वभाव—सुभाव।

सु— सु का स सुपुत्र—सपूत।

कु—कु का का कुपुत्र—कपूत।

सत्—सत् का सद् सद्गुरु—सदगुरु।

सर्वनाम

हिन्दी के सर्वनाम संस्कृत सर्वनाम के रूपों से ही निकले है। हिन्दी में किसी सर्वनाम का मूल ग्रन्य भाषा में खोजने की जरूरत नहीं।

पुरुषवाचक सर्वनाम ये हैं—मैं हम, तू तुम, ग्राप, वह, वे।

मैं—मैं का मूल 'मया' है।

हम—हम का मूल अहम् है । अ का लोप, फिर म् का म । हिन्दी शब्दों में अन्त्य व्यंजन की प्रवृत्ति नहीं दीखती । अतः म् के स्थान पर म। सं० अहम् एकव० है अतः हम का एकवचन प्रयोग हिन्दी में प्रायः होता है । बहुव० अभिप्रेत होने पर स्पष्टता के लि ये 'लोग' (सं० लोक) जोड़ दिया जाता है। कुछ विद्वान् अहम् का ही रूपान्तर अंग्रेजी के I am को मानते है ।

तू—यह संस्कृत के 'त्वम्' शब्द से ही निष्पन्न जान पड़ता है। 'त्वम्' से तुम तद्भव स्पष्ट है । पर 'त्वम्' शब्द में प्रत्ययांश पृथक् करने पर जो प्रकृत्यंश रह जाता है, उससे ही 'तू' निकला जान पड़ता है ।

तुम—इसका मूल संस्कृत 'त्वम्' है । तुम का एकवचन प्रयोग प्रायः होता है । यह मूल के प्रयोग का प्रभाव है । बहुत्व का स्पष्ट बोध कराने के लिये तुम के साथ भी लोग का प्रयोग होता है ।

वह—इसका मूल 'सः' है । इसकी व्युत्पत्ति सरल मार्ग से नहीं हुई है । जन भाषा में 'सो' वह के अर्थ में मिलता है । इस लिये सः 7 सो 7 ओह 7 वहा ऐसी भी विकास गति हो सकती है । 'सः' = स् + अ + : । ओह से वह । ओह का वाह रूप विकल्प से हो सकता है । इस वाह से वह रूप निकल सकता है । वह का बोलने में 'वो' (ओ) रूप हो भी जाता है ।

वे—वह में मुख्य अक्षर 'व' है। इसमें 'ते' के वजन पर एकार के योग से 'वे' बना । 'ते जनपदी भाषाओं (अवधी आदि) में वे के अर्थ में प्रयुक्त भी होता है ।

आप—आप का मूल सं 'आप्त' है जो प्राकृत में आप्पो या अप्पो के रूप में मिलता है । आप्पो में 'ओ' प्राकृत की विशेषता है। प्राकृत की एक विशेषता है अक्षरों का द्वित्व करना । अतः प्प के स्थान पर और ओ का लेप करने से 'आप्पो' का 'आप' हो जाता है। आप्त शब्द से निकलने के कारण आप आदरार्थक मध्यमपुरुष सर्वनाम है । आप्त के अर्थ का प्रभाव आप के प्रयोग पर पड़ा है ।

जब 'आप' का प्रयोग सर्वनाम की तरह नहीं होता स्वयं के अर्थ में होता है, तब आप का सम्बन्ध 'आत्मन्' से जान पड़ता है। आत्मन :—आप्पणो—अपना । कबीर ने अपना के स्थान पर आपना का प्रयोग किया है। 'जो घर फूँके 'आपना' चले हमारे साथ।'

यह, वह ये, वे

'यह' संस्कृत में यत् का रूप यः यौ ये प्रथमा में है।

यह सं० यः का ही रूपान्तर है। तत् का रूप सः तौ ते चलता है।

स से वह बना।

यह समीपस्थ के लिये और वह दूरस्थ के लिये आता है।

ये का मूल सं० ये है।

यहाँ, वहाँ, जहाँ, तहाँ कहाँ — सर्वनामों में यत्र और तत्र और कुत्र में से 'य' त और 'क' को हिन्दी ने ले लिया, त्र प्रत्यय को छोड़ दिया। 'य' को मूल रूप में और तद्भव रूप (ज) में भी लिया गया।

खड़ी बोली में हाँ स्थानवाचक प्रत्यय है। यह ब्रजभाषा, अवधी आदि में हँ के रूप में दीख पड़ता है।

यहाँ = य + हाँ वहाँ = ज + हाँ जहाँ = जहाँ, इसी प्रकार जहाँ-तहाँ सापेक्ष शब्द हैं।

इधर, उधर जिधर, तिधर — धर प्रत्यय है, दिशावाची। कदाचित् इसका सम्बन्ध इतर के तर से है। यह भी सम्भव है कि यह 'धरा' (पृथिवी) से निकला हो।

य, व, र, का सम्प्रसारण इ, उ, ऋ होता है।
यह वह के य और व का सम्प्रसारण से इ, उ
य से इ, धर प्रत्यय, इधर, व से उ-धर प्रत्यय—उधर
इधर के वजन पर (उच्चारण-साम्य से) जिधर, तिधर, जहाँ तहाँ से।
विशेष-इधर-तिधर शब्द में धर प्रत्यय अंग्रेजी के Hither Thither में भी है। यह Ther (दर) उच्चारण में धर के निकट (अल्प प्राण-महाप्राण साम्य) है और + की स्थिति 'तर' संस्कृत प्रत्यय की ओर संकेत करता है।

ऐसा, वैसा जैसा तैसा — ये प्रकारवाचक विशेषण भी सर्वनामों की प्रकृति से ही बनते हैं। सर्वनामों की प्रकृति—यह—य, वह—व, य का इ, प का इ। पुनः इस इ और उ के वृद्धि रूप ऐ और वै, सा प्रत्यय है। 'सम' का स मात्र (शब्दलाघव कर) लिया गया। स में पुंविभक्ति 'आ' के योग से सा, ऐ + सा = ऐसा वै + सा = वैसा। इसी प्रकार जि का जै और ति का तै वृद्धिरूप।

अब, कब यहाँ ब कालवाचक प्रत्यय है और सं० दा का समानार्थी है। 'ब' कदाचित् बेला का आदि अक्षर ब लेकर कालार्थ में प्रत्यय रूप में ग्रहण किया गया।

अब = अ + ब, जब = ज + ब।

कदा, यदा, तदा के क, य (ज) और त को लिया गया है फिर 'ब' अपना प्रत्यय जोड़ा गया।

अद्य का 'अ' अक्षर लेकर अब (अ + ब) बना है।

यों, ज्यों, त्यों, क्यों—यह 'यों' प्रकारवाची प्रत्यय है, कथं के अर्थ में क्यों आता है 'म्' के प्रभाव से अनुनासिक।

य (यह) से यों (य + यों, एक य का लोप)

ज से ज्यों, त से त्यों, क से क्यों

इसी अर्थ में जनपदी रूप में जिनि तिमि किमि चलते हैं।

कभी, अभी, जभी, तभी—यहाँ भी व् + ही = क अ ज त में जुड़ता है।

कव् + ही = कभी अब् + ही = अभी जब् + ही तब् + ही = तभी।

इसी साम्य पर सब से सभी (सब् + ही) बनता है।

संस्कृत में 'सर्व को भी सर्वनाम माना गया है। सर्वादिगण में पठित शब्द ही सर्वनाम है। 'सब' शब्द भी सबके लिये प्रयुक्त होता है। जैसे मैं तुम आदि का प्रयोग सभी पुरुषों के लिये होता है, वैसे 'सब' सब प्राणियों का प्रतिनिधित्व करता है

कौन—(प्रश्नवाचक) संस्कृत कः और प्राकृत को। इसमें न कहाँ से आया यह विचारणीय है।

कोई—(अनिश्चयवाचक) यह कोऽपि से निष्पन्न है। प् का लोप। पुनः अवग्रह के प्रभाव से इ का ई—कोइ—कोई कोई अनिश्चय का पूर्ण सूचक नहीं है। यह मंद संशय का बोध करता है।

इस, उस, किस, जिस—संस्कृत में यत् तत् एतत् आदि की रूपावली में चतुर्थी से स् का आगम होता है यस्य, यस्मात् यस्य आदि में स। हिन्दी में यह, वह आदि का रूप चलाने में स का उपयोग हुआ है। य, व का इ, उ

इसी, उसी, किसी, जिसी—ये इस, उस आदि में 'ई' (ही का ह् लोपकर बनते हैं। उस् + ई (ही) से = उसी। ऐसे स्थलों में उस + ई मानने से गुण सन्धि द्वारा उसे हो जायेगा। (हिन्दी सन्धि में या अनुच्चरित अ अन्तिम अक्षर में है तो उस अक्षर को संधि के लिये व्यंजन मानना पड़ता है। ई प्रत्यय कई प्रकार के है। यह 'ई' अवधारणार्थक है।

क्या कुछ—इन्हें सर्वनाम और अव्यय दोनों कहा जा सकता है। क्या—किम् से निकला है। जनपदीरूप 'की' भी मिलता है मेरे अनुमान में की में ही खड़ी बोली आ विभक्ति लगने से की + या (की के ई का लोप कर) क्या बना है।

कुछ—क्वचित् से निकला है। त् का लोप, फिर क्वचि से कुछ।

क स्वार्थ का प्रत्यय है। बाल—बालक, भिक्षु—भिक्षुक, गोल—गोलक, तन्तु—तन्तुक, बटु-बटुक। कहीं-कहीं क के योग से अर्थ में कुछ अन्तर आ जाता है, पर प्रायः दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं होता है। ऐसे शब्दों के तद्भव रूप दो प्रकार से बने हैं। प्रायः करहित अंश को हिन्दी ने लिया है और उसके तद्भव रूपों में अपने तद्भव प्रत्ययों को जोड़कर शब्द बना लिये हैं।

नीचे दिये उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

सं०		प्राकृत	हिन्दी
आमलक :—	आमल + अक	आमलओ	आँवला
मस्तक :	मस्त् + अब	माथओ	माथा
स्फोटक	स्फोट् + अक	फोड़ओ	फोड़ा
घोटक	घोट् + अक	घोड़ओ	घोड़ा

करहित शब्द के तद्भव रूप में पुं० चिह्न आ लगा कर हिन्दी के ये शब्द बने है अतः हम आमल, मस्त स्फोट और घोट का ही विकास आँवला, माथा फोड़ा, घोड़ा को मानते है।

ऐसे ही

कंटक—कंट + आ—काँटा (अनुस्वार का अनुनासिक)

पत्रक—पत्र + आ पत्ता पता त्र—त्ता, त्त, त

गोलक—गोल + आ गोला

जालक—जाल + आ—जाला

कालक—काल + आ—काला

क धातु में भी जुड़ता है और इसके पूर्व कोई स्वर रहता है। ऐसे प्रत्यय हैं अक, इक उक और ऊक।

क—कर्तृवाचक प्रत्यय—जैसे कारक, पाचक, लेखक। यहाँ क का अर्थ करने वाला होता है। ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग जनभाषा में कम होता है अतः इनका विकास नहीं मिलता।

क से कुछ ऐसे भी शब्द बनते है जिनसे भी एक विशेष प्रकार के कर्त्तृत्व का बोध होता है।

पावक—जो पवित्र करता है, आग।

तमक—जो दम (साँस) को रुद्ध करता है, दम।

लोचक—जो देखता है, पुतली।

सरक—जो चलता रहता है, सड़क।

ऐसे कुछ शब्दों से कुछ तद्भव शब्दों का सम्बन्ध जान पड़ता है।

तम—दम—दमा। दमा फारसी से होकर भी आया है। सरक—सड़क

इका प्रत्यय का सम्बन्ध भी अक से है। यह स्त्रीलिंग प्रत्यय है। इस प्रत्यय से बने स्त्रीलिंग शब्दों की एक सूची दी जाती है, जिसे देखने से प्रकट होगा हिन्दी का स्त्रीलिंग प्रत्यय ई इका रहित रूप में जुड़ता है।

मक्षिका	मक्ष्+इका	मक्ख्+ई = मक्खी
दाढिका	दाढ्+इका	दाढ़्+ई = दाढ़ी (ढ का ढ़)
त्रोटिका	त्रोट्+इका	तोड़्+ई = तोड़ी (ट का ड फिटड़)
खटिका	खट्+इका	खड़्+ई = खड़ी
कुञ्चिका	कुञ्च्+इका	कुंज्+ई = कुंजी (च का ज)
मृत्तिका	मृत्त्+इका	मिट्ट्+ई = मिट्टी (त का ट)
नलिका	नल्+इका	नल्+ई = नली

इन इका प्रत्ययान्त संस्कृत शब्दों का वैकल्पिक रूप मक्षी, दाढी, त्रोटी, खटी, कुञ्ची, मृत्ती, नली आदि माना जा सकता है।

इका से ही हिन्दी इया प्रत्यय भी निकला है। कुछ शब्दों के वैकल्पिक रूप इया के साथ भी चलते है। खड़ी, खड़िया

यह प्रवृत्ति—अर्थात् प्रत्ययरहित संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप से ही हिन्दी प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाना—अनेक शब्दोंके विकास में देखी जा सकती है।

मत्स्य से मछली मानना ठीक नहीं। मच्छ से मछ (च के लोप से) और ली हिन्दी प्रत्यय के योग से मछली। विद्युत् के त् का लोप (व्यंजन का प्रायः लोप) करने से बिज्जु, पुन: बिज्जु से बिजु या बिज जिसमें ली जुड़ने से बिजली। चर्मकार से चमार सीधे नहीं बना है। चर्म से चम और चम+आर = चमार। यह ठीक है कि आर प्रत्यय कार से ही निकला है।

हिन्दी संख्यावाचक शब्दों की निरुक्ति

हिन्दी का शरीर संस्कृत से बना है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत शब्दों का विकास वर्त्तमान तद्भवरूपों में हुआ है। हिन्दी के संख्यावाचकों में सभी संस्कृतमूल के हैं और उनके वर्त्तमान रूप तक के विकास या परिवर्त्तन की कहानी रोचक है। अंकों का आविष्कार प्राचीन आर्यों ने किया अत: प्रा० आ० भा० के शब्दों को ही सबसे पुराने संख्यासूचक शब्द कह सकते हैं।

मूल अंक है १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०। इनके हिन्दी नामों का संस्कृत से कैसा सम्बन्ध रहा है यह नीचे के चक्र से ज्ञात होगा।

अंक	हिन्दी	अपभ्रंश	प्राकृत	संस्कृत
१	एक	एक, एक्क, एक्का, इग एक्कल्ल एकल्ल		एक
२	दो	दो, बे; दुवे		द्वि
३	तीन	तिन्नि तिण्णि,		त्रि
४	चार	चत्तारो: अप० में चारि		चतुर:
५	पाँच	पञ्च, पण्ण पण		पञ्च
६	छ:	छ (अ० मा०)		षट् (षष्)
७	सात	सत्त		सप्त
८	आठ्	अट्ठ		अष्ट
९	नौ	णव,		नव
१०	दश	दह		दश।

एक— 'पदपू' अप० में इसके एँक, एक्क, एँक्क, पअप में इक्क, इग, इथ (पु० स्त्री रूप में) रूप भी मिलते हैं। इनमें एक्क रूप को म० भा० आ० का सामान्य रूप कह सकते हैं। हिन्दी एक मूल संस्कृत के निकट है। किन्तु इसके अन्य अपभ्रंश रूपों को हम संख्यावाचक समासों की रचना में देख सकते हैं। यह ध्यान रहे कि क का ह्रस्व उच्चारण अप० में मिलता है।

इग	इगारह ऐगारह	इग+आरह
इक्क	इक्कीस—	इक्क+ईस
इक्क	इक्कासी एक्कासी	इक्क+असी

एक—शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है।

इकहत्तर	इक्क+हत्तर
इकतीस	इक+तीस

दो—दपू-अप—बे, पद-अप, वे, दोणि,

द्वि का विकास विभक्तियों के जुड़ने के पूर्व दो या वे के रूप में हुआ है।[1]

द्वि—द्वाभ्याम्—दोहि द्वयोः—दोसु

इस दोहि और दो सु में हि और सु विभक्तियों के हटाने पर दो शब्द निकलते हैं।

द्व—समास में अप० में बा (या व) के रूप में दीख पड़ता है।

बारह—द्वादश

बाईस—बा+ईस (बा=दो, बीस के प्रथम व्यंजन का लोप)

तीन—द प अ प. तिन्नि, पू अ०. तिन्न—पाली—तीनि, प्राकृत तिन्नि समास में त्रि का ति-, तै-, तः हो जाता है।

त्रि—त्रीन् का विकसित रूप तीन है। यह पाली—तीनि के निकट है। समास में तीन का ति, तिर, ते रूप हिन्दी में मिलते है।

ते—तेरह=ते+रह ते—तीन—रह—दस।

तिर—तिरासी. तिर+असी, तिर—तीन

ते—तेइस ते+इस ते—तीन इस (बीस के प्रथम व्यंजन का लोप)

चार—पदपू-अप-में इसका रूप चउ (चतुर) पद अप चयारि है प्राभाआ में चत्वार। इसी चयारि से हिन्दी का चार निकलता है। अप० समास में चउ—पू० चउदठ (चतुष्ठ?) हिन्दी में इसका रूप चो हो जाता

---

[1] द्वे दों—प्रा० प्र० स—५४।

ओस्तिः। चतुरश्चत्तारो चत्तारि। चतुरश्चत्तारो चउरो चंतारि।

हैं। चौ—चउ अव.। इधर हिन्दी में अउ के स्थान पर ौ और अ इ के स्थान पर ै मात्रा के प्रयोग की प्रवृत्ति दीख पड़ती है।

चौदह चौ+दह चतुर्दश

चौरासी चौर+असी चतुरशीति

पाँच—प्रा० पञ्च। हिन्दी मे समाप में इस का रूप पंच, पंद् पँ हो जाता है। अप० में समास में इसका रूप पण्ण या पण हो जाता है। पण्णरह–पंचदश

पँद–पँद्रह+रह (पञ्चदश)

पच–पचीस पचीस—पच+ईस (ईस. बीस के ब का लोप)

पचहत्तर पच+हत्तर, हत्तर—सत्तर

पंच–पंचानबे—पंच+ा+नबे

छः—संस्कृत षट्–पदअप–छ, छह।

षट् पद—छप्पय सोलह—षोडश

हिन्दी में इसका रूप छ, छिं, छा समास में होता है।।

छ–छत्तीस— छ+तीस।

छबीस— छ–बीस

छि–छियालिस—छि+आलीस (चालीस के च का लोप)

सात—सप्त—सत्त

समास में सत हो जाता है।

सतरह—सत+रह

आठ—अष्ट—अट्ठ, अढ–प्रा०—अट्ठ–अप०

नौ (नव)— नव—णव–प्रा०—णव—नौ

दश—दश—दस,दह अप०, दस,दह प्रा०, दस-पा

समास में दश का रह अप० में भी मिलता है।

प.द.अप—इयारह, प्रा०–एक्कारस, एग्गारह, इयारह

बारह—प्रा०+बारस,

तेरह—प्रा० तेरस, तेरह, पाली–तेलस, तेड़स

पण्णरह—प्रा० पण्णरस-पा० पन्नरस, पण्णरस

११ एकादश—एक्कारस, इक्कारस प्रा० एग्गारह—ग्यारह

१२ द्वादश—दुवादस (अ०प्रा०) बारस, दुवालस (अमा०) बारह,

१३ त्रयोदश—त्रैदस, तेरस, तेरह—तेरह

१४ चतुर्दश—चोदस, चोद्दस, चोद्दह, (अप०) चौदह

१५ पंचदश—पण्णरस, (अमा० जै० महा०) पन्द्रह

१६ षोडश—सोलस, सोलस—सोलह।

१७ सप्तदश—सत्तरस—सतरह

१८ अष्टादश—अट्ठारस—अप० अट्ठारह।

१९ एकोनविंशति—एगुणवीस—उन्नीस ऊन्+वीस उन+ईस उन्नीस=ऊन विंशति—अउणवीसा बीस का समास होने पर ईस।

२० विंशति-वीस, वीसा, वीसई, वीसइ—वीस—पदअप—वीस

२१ एकविंशति—एक्कवीसइ, अप-एक्कवीस—एक्कीस, इक्कीस-बीस का ईस (आदि व्यंजन व का लोप) एक्क+ईस=एक्कीस

२२ द्वाविंशति—बावीस—बावीसं—बाईस

२३ त्रिविंशति—तेवीसं तेईस

२४ चतुर्विंशति—चउव्वीसं, चावीसअप—चौबीस

२६ षड्विंशति—छव्वीस—छव्वीस, छब्बिस छब्बीस इसमें बीस का ईस नहीं हुआ बीस ही रहा

२७ सप्तविंशति-सत्तवीस, सत्ताविसं सत्तावीसा-सत्ताइस, सत्ता+ईस=सत्ताइस

२८ अष्टविंशति—अट्ठावीसं, अट्ठावीसा—दअप अट्ठावोस अट्ठाईस, अठाईस

२९ एकोनत्रिंशत् ऊनत्रिंशत्—उणतीस, उणतीसइ, प्रा०अउण तीस-उनतीस

३० त्रिंशत्—तीसं, तीसा—तीस, पद अप—तीस

३१ एकत्रिंशत्—एक्कतीसं, इक्कतीस—इकतीस, एकतीस,

३२ द्वात्रिंशत्—बत्तीसं, बत्तीसा—बत्तीस ब+तीस। ब=२।

३३ त्रिंशत्—तेत्तीस तायत्तीसा—दअप—तेत्तीस—तैंतीस

३४ चतुस्त्रिंशत्—चोत्तीसं—अप—चौतीस

३५ पंचत्रिंशत्—पणतीस—पणत्तीसं-पैंतीस

३६ षट्त्रिंशत्—छत्तीसं, छतीस

३७ सप्तत्रिंशत्—सत्ततीस-संतीस

३८ अष्टत्रिंशत्—अट्ठतीस, अष्ठतीसा—अट्ठांयीस-अट्ठाइस

३९ ऊनचत्वारिंशत्—उणत्तालिसं, उणचत्तालीसा—उनचालिस, उनतालिस

४० चत्वारिशत्—चत्तालीसा, चत्तालीस, चालीसा—चालीस चाइ+ईस र्, काल् चाल्+ईस = चालीस

४१ एकचत्वारिंशत—एक्कचत्तालीस, इक्कतालीस—इकतालीस, एकतालिस

४२ द्वाचत्वारिंशत्—बायालीसं—बयालिस, बयालोस, ब+आलिस (चालिस के आदिव्यंजन च का लोप)

४३ त्रिचत्वारिशत्—तेतासीस, तेतालीस—तैंतालीस—तैं = ३ तालीस चालीस का वैक० रूप

४४ चतुर्चत्वारिंशत्—चौतालीसा, चौवालीसा—चौवालिस, चौ+आलिस

४५ पंचयत्वारिंशत्—पणचालीस, पणचालीस पन्नतालीसा—पैंतालीस = पैं = ५ तालीस = चालीस

४६ षट्चत्वारिंशत्—छत्तालीस, छचातालीस प्रा० छिआलीस, छियालीस छ+आलीस आलीस = चालीस (च का लोप)

४७ सप्तचत्वारिंशत्—सत्तालीसं सत्तअत्तालीस प्रा०—सैंतालीस सैं = सात तालीस = चालीस

४८ अष्टचत्वारिंशत्—अट्ठअत्तालीस-प्रा—अप अट्ठापाल—अँडतालीस अँड =अठ = आठ

४९ ऊनपंचाशत्-उणपंचासा उणवंचासा-प्रा—अप—एक्कूण्याइ पण्णास्— उनचास ऊ+पचास के आदि अक्षर प का लोप

५० पंचाशत्—पण्णासं, पण्णास प्रा—पचास

५१ एकपञ्चाशत्—एक्कावण्णं-इक्यावन—एक्कावन, इक्कावन, इक्यावन पंचास = पन + चास पन का वन इक्कावन इक्क+आ+वन वन = पन = इक्कावन का अर्थ होगा पाँच पर एक

५२ द्विपञ्चाशत्—बावणं—बावन—व = २ वन = पन ५ पाँच पर २

५३ त्रिपञ्चाशत्—तेवण त्रिप्पण तिरपन–तिर = ३ पन ५ पाँच पर ३

५४ चतु:पञ्चाशत्—चउप्पण-चौवन

५५ पंच पंचाशत् पण पण्णास द० अप०—पचपन—पचपन = पाँच पर पाँच

५६ षट्पचाशत्—छप्पण-छप्पन छ पर पाँच

५७ सप्तपंचाशत्—सत्तावण—सत्तावन— सत्त+आ+वन-५ पर ७

५८ अष्टपञ्चाशत्—अट्ठवणं—अट्ठावन—अट्ठ+आ+वन-५ पर ८

५९ ऊन षष्टि—एगूणसट्ठि, अउणट्ठि—उनसठ—उन+सठ-साठ का सठ

६० षष्टि -- सट्ठि—साठ

६१ एकषष्टि—एकषष्टि—एकसठ, इकसठ

६२ द्वाषष्टि—बासट्ठि—बासठ

६३ त्रिषष्टि—तेसट्ठि, तिरसष्ठि, त्रेसठ

६४ चतुःषष्टि—चउसट्ठि—चौंसठ

६५ पञ्चषष्टि—पइसट्ठि—पैंसठ

६६ षट्षष्टि छासट्टिय् प्रा—चासट्ठी— प० अप०

६७ सप्तसस्टि—सतसट्ठिष्ट—सतसठ, सरसठ, सड़सठ—सत का सड़

६८ अष्टषष्टि—अठसट्ठि—अड़सठ अड़सठ—अठ—अड़

६९ ऊनसप्तति—एगूणसत्तरि उनहत्तर—सत्तर—दतर, स का ह

७० सप्तति—सत्तरि(अ मा) सत्तर। समास में सत्तर का हत्तर होजाता है।

७१ एकसप्तति—एक सत्तरि—इकहत्तर

७२ द्विसप्तति—बिसत्तरि, बावत्तरि ब+हत्तर

७३ त्रिसप्तति--तेवत्तरि--तिहत्तर ति+हत्तर

७४ चतुस् सप्तति--चउहत्तरि--चौहत्तर चौ + हत्तर

७५ पंचसप्तति--पंचहत्तरी प्रा०--पंचहत्तर

७६ षट्सप्तति --छावत्तरि-छि+हत्तर=छिहत्तर

७७ सप्त सप्तति—सप्तहत्तरि—सतहत्तर सत+हत्तर

७८ अष्टसप्तति—अट्ठत्तरि—अठहत्तर अठ+हत्तर, अठत्तर (ह का लोप)

७९ एकोनाशीति—*उण्णासी—उन्नासी ऊनासी, उन+असी

८० अशीति—असीइ, असिह प्रा, असी

८१ एकाशीति—एक्कासीइ—इक्कासी, इक्क+असी वैक० इकासी, इक्यासी

८२ द्वयशीति—बासीइ—बयासी, ब+असी

८३ त्र्यशीति—तेसीइ—तिरासी—तिर+असी

८४ चतुराशीति—चउरासीइ—चौरासी अप—चउरासी—चौरासी

८५ पञ्चाशीति—पञ्चासीइ—पचासी

८६ षडशीति—छउसीइ—छियासी

८७ सप्ताशीति—सत्तासीइ—सत्तासी

८८ अष्टाशीति—अट्टासि—अठासी

८९ नवाशीति, एकोननवति—एगूणनउ—नवासी

९० नवति—नउइ, नउइं, नव्वए.प्रा—नब्बे
९१ एकनवति—एक्काणउइ—इक्यानवे, एकानबे, एक+नब्बे
९२ द्विनवति—बाणउइ— बानबे, बा+नबे
९३ त्रिनवति—तेणउइ—तिरानवे
९४ चतुरनवति—चउणनव—चौरानबे
९५ पञ्चनवति—पञ्चाणउइ— पंचानबे
९६ षण्णवति—छण्णाउइ—छियानवे —अप० छण्णानइ
९७ सप्तनवति—सत्तानउए—सत्तानवे सत्तानबे सत्तआ+नबें
९८ अष्टानवति— अठानबे
९९ नवनवति—निन्यानवे दअं—णवणवयइ निन्यानबे निन्या = नौ
१०० शत—सद,सअ,सय (अमा०) सौ पअप–सअ, दअप–सय 'सहस'–
यह प्राचीन हिन्दी में मिलता है।
१००० सहस्त्र—सहस—(अ.प्रा.) सहस्स—हजार। कुछ विद्वानों ने सकृत
के स को *सम् से विकसित माना है। सहस में यदि स का सम्बन्ध*
'सम' से माने तो मूल शब्द हस्र निकलता है।
१०००० लक्ष—लक्ख, सत सहस्र, सयं सहस्स (अ. प्रा.)—लाख
१०००००० कोटि—कोरोइ, क्रोड़ि—करोरि
१००,००,००,००० अर्बुद—अरब
१००,००,००,००,००० खर्व—खरब

संस्कृत सँख्याओं में अंतिम त् का हिन्दी में लोप हो गया है। विंशति
त्रिशति आदि के ति का भी लोप हो गया है।

क्रमसंख्या वाचक

प्रथम—पढ्‌म, पढइहल्ल (अ मा.) पढ़िल्ल, पठिल्ल, पथिल्ल, प्रा०— पदअप–में
पहिला

अवे०–फतअम पहिलआ, पहिल्ला—पहिला, पहला।

द्वितीय—दुईअ दुंइय (अ मा०) बीच–दपअप–बीअ, पअम में
अवे० दइवित्य वित्प दुइया, दुइज्जा—दूजा, दूसरा

तृतीय—तइअ, ततिथ (अ०प्रा०)—दअप–तैया, पअप में तिज्जो–
तीजा, तीसरा अवे० प्रित्य

चतुर्थ—चउत्थ, चदुत्थ, चउट्ठ—पदअप–चउट्ठ दअप–चउट्ठ+चोत्था
–चौथा।

तुरीय ,तुर्य-

पञ्चम—पञ्चम—— दअप में पञ्चवा—पाँचवा,पँचवाँ

पक्थ(ऋग्वेद) पञ्चथ—काठक संहिता

षष्ठ—छट्ठ–छट्ठा (अमा० स्त्री०) पदअप में छट्ठय दअप–छट्ठा–छठा, छठवाँ भी प्रयोग मिलता है।

सप्तम—सतम् सातम (ला०प्रा०)—दअप में सत्तवा—सातवाँ, सतवाँ सप्तथ (ऋग्वेद)

अष्टम—अठम (ला०प्रा०)—आठवाँ, अठवाँ

नवम—णवम् (ला०प्रा०)—नवाँ

दशम—दसम (ला०प्रा०) दसम,दसमी (स्त्री०)—दसवाँ

हिन्दी में दूसरा, तीसरा रूप चलता है। 'सरा' क्रमसंख्यावा० प्रत्यय है। यह सं० तिस्रः (स्त्री०) से निकला जान पड़ता है। 'सरा' का ही एक रूप हरा प्रत्यय में भी मिलता है। इकहरा, दुहरा. चौहरा।

अपूर्णसंख्यावाचक

पाद—पाव, पाअ—पाव = $\frac{1}{4}$

अर्द्ध—अड्ढ, अद्ध--आध = $\frac{1}{2}$

द्वयर्ध—दिवड्ढ, दिअड्ढ—डेढ़ $1\frac{1}{2}$

अर्धतृतीय — अढतीय; अड्ढाइअ (अ० मा०) अढ़ाई, ढाई (अ का लोप) = $2\frac{1}{2}$

अर्धचतुर्थ — अद्धउत्थ, अड्ढअहुट्ठ...अउट्ठा, वैक० रूप हूँठा

अर्धषष्ठ—अद्धछट्ठ

सपाद—सवाअ—सवा

सार्द्ध—सड्ढ—साढ़े

पादोन—पाओन, पाउन—पौन

ऊपर प्राकृत रूप दिये गये है। अपभ्रंश में ये ही रूप है।
पौन जब किसी अंक के पहले आता है तो उसका रूप पौने (पौन+ए) हो जाता है। पादोन का अर्थ होता है चौथाई कम। पौने चार का अर्थ है

२४ सवा सपाद का अपभ्रंश है अतः उसका अर्थ है पाद (चौथाई) सहित पाद का अपभ्रंश का वा अ, पुनः अ का लोप, इस प्रकार 'सवा' निष्पन्न हुआ। सौ के ऊपर शतगुण संख्याओं में सवा का अर्थ अंतिम संख्या का चौथा हिस्सा होता है। 'सवा आठ सौ' का अर्थ है आठ सौ और सौ का पाव (चौथा) भाग २५ अर्थात् ८२५ पौने की तरह अंक के पूर्व साढ़ (सार्द्ध) का साढ़े हो जाता है। डेढ़ द्वयर्ध से निकला है। यहाँ अर्ध को पूर्व के अंक में से घटना पड़ता है। अर्ध चतुर्थ से अप० अड्ढअहुउट्ठा होता है। चतुर्थ में थ प्रत्यय का ट्ठ होता है। अंग्रेजी में संख्यावाचकों में भी यह फोर्थ फिफ्थ आदि में मिलता है। अर्ध चतुर्थ के अपभ्रंश में च ध्वनि का लोप हो गया है।

तिहाई, चौथाई सवाई — इन संख्यावाचकों में आई प्रत्यय है। तिह+आई, चौथ+आई।

विशेष—एक के साथ आध (अर्द्ध) का समास होने पर विग्रह 'एक और आधा' न होकर एक या आधा होता है। अतः एकाध वैकल्पिक द्वन्द्व माना जा सकता है। एकाध में लगभग का अर्थ रहता है।

आवृत्तिवाचक संख्यायें

पूर्णांकों के विकारी रूपों में गुना प्रत्यय के जोड़ने से आवृत्तिवाचक संख्यायें बनती हैं, दो से दुगना, तीन से तिगुना, चार से चौगुना, पाँच से पंचगुना, छ से छगुना, आठ से अठगुना, नौ से नौगुना आदि। 'गुना' का स्त्रीलिंग रूप गुनी होता है।

गुना—सं० गुण से निकला है। तिगुना (त्रिगुण)

परत या मोड़ के अर्थं में 'हरा' प्रत्यय (स्त्रीलिंग रूप हरी) होता है। इकहरा, दुहरा, तिहरा, चौहरा आदि।

यह दुहरा तिहरा धातु के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

पहाड़े में इन संख्यावाचकों के मूल रूप में याद करने की सुविधा से कई प्रकार के विकार होते है।

दो से दूने दूनी
तीन से तियाँ, तिरिक
चार—चौक, चौके

पाँच—पंचे

छः—छक, छके

सात—सते, सत्ते

आठ—अठे, अट्ठे

नौ—नवाँ, नवे

दस—दहम्, दहाई

समुदायवाचक संख्यायें

२ जोड़ा—यह योग शब्द से निकला है। योग का यो जो के रूप में हिन्दी ने ले लिया। जो में ड़ा हिन्दी का प्रत्यय लगा कर जोड़ा बनाया गया। ड़ा का स्त्रीलिंगी रूप 'ड़ी' है।

४ चौकड़ी—चौ में क प्रत्यय के योग से चौक पुनः ड़ी प्रत्यय लगाया गया चौ + क + ड़ी।

५ गाहीं—?

१० दहाई—दह—दश दह + आई

१२ दर्जन—यह अंग्रेजी डजन का तद्भव है

२० बीसी, कोड़ी बीसी = बीस + ई। कोड़ी

२५ पचीसी—पचीस + ई

३२ बत्तीसी—बत्तीस + ई

४० चालीसा चालीसा—चालीस + आ

१०० सैकड़ा सै + क + ड़ा

सैक कदाचित् शतक से निकला है। कड़ा प्रत्यय टुकड़ा में भी दीखता है।

७०० सतसई सतसई—सप्तशती, सप्त—सत, शती—सई

१००० हजारा हजार + आ

तिथिसूचक शब्द

१ परिवा प्रतिपदा

२ दूज द्वितीया

१० दसमी—दशमी

११ एकादसी-एकादशी

३	तीज	तृतीय
४	चौथ	चतुर्थी
५	पंचमी	पंचमी
६	छठ	षष्ठी
७	सतमी	सप्तमी
८	अष्टमी	अष्टमी
९	नवमी	नवमी
१२	दुआदसी-द्वादशी-द्वादशी	
१३	तेरस-त्रयोदशी	
१४	चौदस चतुर्दश	
१५	पूरनमासी--पूर्णमासी	
	पूनो--पूर्णिमा	

यह देखा जाता है कि जिन तिथियों का धार्मिक महत्त्व है उनमें कोई विकार नहीं हुआ है या उच्चारणमात्र के कारण कुछ विकार हुआ है, जैसे पंचमी (वसंत पंचमी) नवमी (रामनवमी) दसमी (विजयादशमी) एकादसी (एकादशी)। छठ महत्त्वपूर्ण पर्व तो है पर सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में नहीं। त्रयादेश से तेरह और तेरस दोनों निकले हैं। यद्यपि स का प्राय: ह होता है पर तेरह रूप संख्या के लिये जब ग्रहीत हो गया तब उससे भेद करने के लिये तेरस शब्द तिथि के लिये चला।

———

अव्यय

आगे — यह अग्र शब्द से व्युत्पन्न है। अग्रे शब्द का प्रयोग भी सं० में है। हो सकता है कि यह सीधे अग्रे से ही निकला हो। आगे में ए सप्तमी ए० व० के ए (फले आदि) से प्रभावित जान पड़ता है।

पीछे — 'पश्च' से ही पीछे निकला है। पश्च से पछ होना चाहिये। पर इससे बना पश्चात् शब्द पीछे के अर्थ में आता है। हिन्दी में दिशा वाचक और कालवाचक अव्यय में एकार लगाने का प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

आज — आज सं० अद्य से निकला है। द्य का ज हुआ।

कल — कल कल्य से निकला है। इसके अन्य बोलियों में रूप कल्ह, काल्ह आदि भी होते हैं।

तड़के — तड़के—'तड़का' का अर्थ सबेरा है। 'पौ फटना' मुहावरे में 'पौ' का अर्थ ज्योति है इस 'फटना' से तड़का (तड़तड़ाना) का तड़ निकट जान पड़ता है। तड़ित् में तड़ है। पो—पवि (वज्र) 'पौ' और तड़ में अर्थसादृश्य है।

भोरे — भोरे—भोरे शब्द की व्युत्पत्ति शब्दसागर में 'विभावरी' से मानी गई है पर यह मान्य नहीं है। विभावरी का अर्थ रात है। मेरा अनुमान है कि भोर में प्रकृति भो (भा प्रकाश) है। र प्रत्यय है। प्रकाश की वेला भोर।

तुरत — तुरत त्वरित का तद्भव है। 'तुर'+त के योग से भी तुरत बनता है।

परसों — परश्वः। विसर्ग का यहाँ ओ हुआ है, फिर अनुनासिक। विसर्ग का आ होता तो परसा (जो परशु का भी तद्भव है) से भ्रम होता परसो से भी पर सो के योग से भ्रम हो सकता था अतः पर सों)

तरसों — तरसों परसों के वजन पर गढ़ा हुआ शब्द है। तर का यहाँ तीन अर्थ है—तीसरा दिन आज लेकर। परसों में पर का अर्थ है अन्य या दूसरा। परसों के ही अर्थ में 'परों' शब्द भोजपुरी में आता है।

फिर — फिर कैसे निकला है यह ठीक बताना कठिन है। संस्कृत में पुन: शब्द आता है जिसका एक रूप पुनि हिन्दी में चलता है। पुन: में प्रकृत्यंश पु का फि होना सम्भव है। क्या फिर में र हिन्दी का प्रत्यय है ?

नित — नित्य—य के लोप से नित।

पार — पार यह संस्कृत पारम् से निकला है। जिस तट पर अपनी स्थिति हो उससे भिन्न तट। इस पार (किनारा) से 'पाड़' (धोती का किनारा) भी र को ड़ करने से निकला है।

आर-पार — 'आर' पार से भिन्न तट। पार के वजन पर गढ़ा शब्द

पास — पास पार्श्व से निकला है। रेफ और अन्त्य व को लोप।

आसपास — पास के वजन पर गढ़ा जान पड़ता है। जैसे आरपार वैसे ही आस पास। आस सं० आशा (दिशा) से निकला हो सकता है।

बाहर — बहिर् (बहि:) से बहिर, होता। पर बाहर (बधिर का तद्भव) से भेद करने के लिये हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। अथवा इस पर बाह्य का भी प्रभाव पड़ने से बाहर हुआ है। भीतर अभ्यन्तर के अ के लोप और लघुकरण से बना है।

ऊपर — उपरि से ऊपर।

नीचे — नीच से अव्यय प्रत्यय ए के योग से नीचे।

अचानक — श० सा० के अनुसार 'अज्ञानात्' से इसको व्युत्पत्ति है। आत् प्रत्यय हटाने पर अज्ञान जिससे अजान, पुन: ज का च अत:, अचान, अचान में क प्रत्यय से अचानक। इस अर्थ में अचम्बिते शब्द बँगला में मिलता है जिसमें च आया है। अचम्ब से अचम्भा निकला है। कदाचित् इस च के प्रभाव से अजान का अचान हुआ हो।

'चट' — यह शब्द चटुल के चट से निकला है। चटुल चंचल 'झट' यह झटित के झट से निकला है।

झट पट, चट पट — समश्रुति के आधार पर आवृत्ति के ढंग पर पट के योग से बना है।

ठीक — ठीक में क प्रत्यय है। 'ठी'—'स्थि' से बना जान पड़ाता है। जैसी स्थिति हो वैसा ही –'ठी'।

ठीक ठाक ठाक में क प्रत्यय है। ठा 'स्था' से निकला है। ठीक—ठाक। आवृत्तिमूलक शब्दों की रचना की विशेष पद्धति से बना है।

लगातार लगा—लग् लग्न से बना है। तार—सिलसिला यह निरन्तर के तर का प्रभाव भी हो सकता है। तार लगा रहना—सिल सिला। तार का अर्थ सूत (सूत्र) भी होता है।

सचमुच सच—सत्य। 'सत्यम् उच' से सचमुच हुआ जान पड़ता है।

सेंत मेंत सेंत (बिना दाम) की व्युत्पत्ति श० सा० के अनुसार संहति से है। मेंत अनुकृतिवाचक जान पड़ता है।

हौले हौले हलु—लघु हलु—धीरे हलु से हौले।

एकाएक एक एक से आवृत्तिमूलक शब्द।

धड़ाधड़ धड़ धड़। आवृत्तिमूलक

मनमाने मनमाने मन जिस रूप को माने उस ढंग से। मन मनस्। मान—मान्य। ए अव्ययसूचक प्रत्यय

अनजाने अन—उपसर्ग, जाने (जान—ज्ञान) ए प्रत्यय

पहले पहले पहला पह (प्रथ) + ला प्रत्यय

जी जी जीव से। व का लोप।

हाँ 'आम्' से। ह का आगम ह + आम् = हाम् = हाँ

नहीं नहीं = न + ही + (अनुनासिकता) न और हीं। ही से भेद करने को अनुनासिक।

तो तु से तो

परे पर से परे

बीच बीच—वीचि (लहर) से शब्द सागर में सं० विच—अलग करना से इसकी व्युत्पत्ति मानी गई है। पर मध्यवाला अर्थ नहीं है। नदी में वीचि बीच में रहती है। क्या इसका सम्बन्ध उस बीचि से है ?

साथ साथ—क्या इसकी व्युत्पत्ति सार्थवाह के सार्थ से है? सहित (श० सा०) से मानने पर स से सा होने में कठिनाई है। साहित्य के य के लोप से साहित और तह (वर्ण विपर्यय) से था और इ का लोप करने से साथ बन सकता है पर मुझे यह सार्थ से ही निकला जान पड़ता है।

लिये — लिये—लेकर के अर्थ में लिया में ए प्रत्यय

पर — उपरि का ऊपर ऊके लोप से 'पर'। उपरि से अँग्रेजी का अपर भी मिलता है।

बदले — बदला के ए प्रत्यय से—बदले

बिना — विनासे बिना।

मारे — मार से अव्यय। मारना मारण। मारे—कारण सा कष्ठ या पीड़ा जिस से हो, उसके कारण।

नाईं—न्याय—नाईं—(नाई से भेद करने के लिये अनुनासिक।)

चाहे— 'चाह'+ए। चाह—उत्+साह। उत् का ओप। स का च।

विस्मयादिबोधक अव्यय

ओ — यह ध्वन्यात्मक शब्द अन्य भाषाओं में भी विस्मयबोधक माना जाता है।

ओह — ओ में ह का आगम हुआ। ह प्राणवायु की ध्वनि का सूचक है।

ओ हो — ओ हो। ह की ध्वनि को तीव्रता देने के लिये ओ के योग से हो बना है।

हाय — 'हा' संस्कृत में य का आगम हुआ।

हा — संस्कृत में 'हा' चलता है।

आह अहो — 'आह' प्राणों की आकुलता का बोधक अव्यय।

छिः — ध्वन्यात्मक शब्द है।

थू। — थूकने के शब्द का अनुकरण करने से थू भी ध्वन्यात्मक है।

हायरे — 'रे' संस्कृत में भी है। हाय का उल्लेख हो चुका है।

दैयारे — दैया 'दैव' का तद्भव है।

बापरे — 'बाप' शब्द की उत्पत्ति देखें।

भाई रे। — भाई (भा में ई का आगम) भा का का मूल्य अक्षर 'भा'। माता पिता आदि में ता प्रत्यय मान कर छोड़ दिया गया। केवल मा ग्रहण हुआ।

जी अजी   जी–जीव का तद्भव है। अजी में अ का आगम।

रे री   'रे' संस्कृत अव्यय है ही। री के स्त्री लिं० रूप है।

अरे, अरी   अरे रे में अ का आगम। अरी (स्त्रीलिंग)

अहाहा   'अहह' स० से।

संयोजक अव्यय आदि

और   अपर-अवर–अउर–और

फिर   यह 'फिर' (फिरना) से सम्बन्ध है। फेर का अक० रूप फिर फेरना) प्रेरणा–प्रा० पेरना। प का फ।

या वा   याफारसी से आया है। पर इसे 'वा' सं० से सम्बन्द्ध माना जा सकता है। य का व और व का य होता रहता है। आया–आवा खाया–खावा।

पर   पर–पर।

———

हिन्दी शब्दावली में देशी शब्द

हिन्दी का शरीर मुख्यत: संस्कृत से ही बना है। किसी भाषा के गठन को जानने के लिये उसके विविध अंगों की रचना को देखना आवश्यक होता है। हिन्दी की अधिकांश धातुयें और प्रत्यय, क्रियायें, संज्ञायें, सर्वनाम, विशेषण और अव्यय संस्कृत शब्दों से ही विकसित हुये है। प्राकृत के जिन शब्दों से हिन्दी शब्दों के आधुनिक रूपों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वे स्वयं संस्कृत से बने हुये हैं। हिन्दी में आर्यमूल के शब्दों की संख्या इतनी अधिक है कि हिन्दी को संस्कृत से विकसित मान सकते है। हिन्दी में देश्य शब्दों की संख्या भी काफी है जिनका किन्हीं आर्येतर भारतीय भाषा से विकास हुआ है। पर उन प्राचीन आर्येतर भाषाओं का हमें ज्ञान नहीं है, क्योंकि उनका कोई पुराना साहित्य प्राप्त नहीं है और इतिहास का ज्ञान न होने के कारण हमारी कठिनता बढ़ जाती है। भारत की आर्येतर भाषाओं में द्राविड़ भाषायें साहित्य की दृष्टि से समृद्ध हैं और उनका इतिहास भी पुराना है पर बनवासी जातियों की भाषाओं मे लिखित साहित्य नहीं है। वे चिरकाल से लपित भाषा के रूप में ही जीवित रही हैं। इधर गत शताब्दी से इनकी शब्दावली यूरोपीय पादरियों के प्रयत्न से रोमन लिपि में प्रकाशित हुई है और इनमें बाइबिल और कुछ अन्य पाठ्यपुस्तकें छापी गई हैं। हिन्दी विद्वानों द्वारा जब हिन्दी-क्षेत्र की बनवासी जातियों की भाषाओं की शब्दावली का शास्त्रीय अध्ययन होगा तब हिन्दी के कुछ देश्य शब्दों पर प्रकाश पड़ सकेगा। अभी हम देश्य या देशी शब्दों के वर्ग में उन्हीं शब्दों को रखें जो अज्ञातकुलशील हैं और जो अभारतीय नहीं है। दक्षिणी भाषाओं से जो शब्द हिन्दी में आये हैं वे द्राविड़ कुल के शब्द देश्य माने जाय या नहीं यह विचारणीय है। द्राविड़ भाषायें आर्येतर भाषायें है और हिन्दी-क्षेत्र के बाहर की हैं। अत: हिन्दी में द्राविड शब्द बहुत कम हैं। देशी शब्द वे हैं, जो न संस्कृत-कुल की हैं न द्राविड़ कुल की और जो अभारतीय भी नहीं हैं। ऐसे शब्दों की संख्या कम नहीं है। हिन्दी के तद्भव शब्दों के बाद हमारी शब्दावली में ऐसे ही शब्दों की संख्या अधिक हैं। इन देशी शब्दों का प्रवेश हमारी भाषा में कदाचित् हजार साल से भी पहले हुआ था। कुछ लोगों का अनुमान है कि इन शब्दों में बहुतेरे ऐसे शब्द है जो

प्राचीन काल से ही हमारी जनभाषा में वर्त्तमान थे। वैदिक भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं, जो लौकिक संस्कृत साहित्य में नहीं मिलते। कुछ देशी शब्द उन वैदिक शब्दों से मिलते-जुलते हैं। हो सकता है कि अनेक तथा कथित देशी शब्द वेदकाल में भी आज के हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित रहे हों पर उन्हें वैदिक भाषा में स्थान नहीं मिला। ये देशी शब्द भी किसी प्राचीन भाषापरम्परा से सम्बद्ध हैं पर उनका सम्बन्धसूत्र टूट गया है और हम उसके शुरु के सिरे को पकड़ पाने में असमर्थ हैं। वेदभाषा आर्यों के किसी स्थानविशेष या वर्गविशेष की भाषा का साहित्यक या शिष्ट रूप है। आर्यों में निम्न वर्ग शूद्रों की भाषा या आर्येतर उत्तर भारतीयों की भाषा के अन्य रूपों का परिचय उससे नहीं मिलता। अतः यह अनुमान सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता कि कुछ देश्य शब्द उन भाषाओं के तत्कालीन रूपों से ही विकसित हुये हैं।* हेमचन्द्र ने देशीनाम माला नामक ग्रंथ में अनेक देशी शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत शब्दों से दिखलाया है। आधुनिक विद्वान् कुछ शब्दों को द्राविड़ भाषा के शब्द मानते हैं और कुछ शब्द वन्य भाषाओं के भी बताते हैं।

प्राकृत वैयाकरण देश्य वर्ग में उन शब्दों को रखते हैं जिनकी व्युत्पत्ति वे किसी संस्कृत धातु से बताने में असमर्थ है। सिंहराज तो देश्य शब्दों को भी प्राकृत का ही एक भेद मानते हैं। प्राकृत शब्दः त्रिधा संस्कृतसमः संस्कृतसमा देश्याः च इति। सिंहराज का संस्कृतसमा

---

*संस्कृतेतर भारतीय आर्यभाषाओं के प्राचीन अवशेष सुरक्षित नहीं रहे तथा उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव भी नहीं होता यदि मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं में ऐसी बहुत सी सामग्री उपलब्ध न होती जिसकी वैदिक पौराणिक या महाकाव्यकालीन संस्कृत से व्याख्या नहीं हो सकती। इस प्रकार की सामग्री का सम्पूर्ण संग्रह कभी नहीं किया गया, किन्तु जो साक्ष्य उपलब्ध हैं वह यह प्रमाणित करते हैं कि यदि भारतीय आर्य संस्कृतेतर बोलियों का अस्तित्व भी कभी बना हुआ था।

पृ० १९-नरूला हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

तत्सम है* और संस्कृतभवः तद्भव। आज के अनेक भाषाशास्त्रियों का मत है कि देश्य शब्द वे हैं, जो वेदकाल में या वेदोत्तर काल में प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हो गये थे। काल्डवेल आदि कुछ विद्वानों ने द्रविड शब्दों को वेदों में भी दिखलाया है। ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में यह कहना कि वे द्रविड भाषाओं से ही वैदिक भाषा में लिये गये बड़े साहस का काम है विशेष कर तब, जब कि द्रविड भाषा का साक्ष्य ईसापूर्व का नहीं मिलता। अतः देशीविषयक यह धारणा ही सही जान पड़ती है कि ये शब्द न तो आर्य भाषा के हैं और न विदेशी अथवा अभारतीय, वे ही देशी शब्द हैं।

देशीविषयक प्राचीनों के मत

(१) देशी दुःसन्दर्भाः प्रायः सन्दर्भितोऽपि दुर्बोधाः देशी शब्द दुःसन्दर्भ होते हैं अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति बताना कठिन है, संदर्भित कर देने पर भी दुर्बोध रह जाते हैं।

(२) पूर्वैः असाधितपूर्वाः देश्याः—पहले के आचार्यों के द्वारा जो शब्द साधित न हो सके हों तो उन्हे हम देशी कहते है।

पूर्व के आचार्यों द्वारा जो असाधित थे। उनमें से अनेक शब्द आधुनिक भाषाशास्त्रियों द्वारा साधित हो गये हैं। हेमचन्द्र ने भी अनेक शब्दों को देशीनाममाला में स्थान दिया और फिर उन्हें साधित भी करने का प्रयास किया। अतः आज के आचार्यों का भी वह अधिकार प्राप्त है जो पूर्वाचार्यों का प्राप्त थे। बहुत से देशी शब्द ध्वनि या वस्तु के आकार और व्यापार को व्यक्त करने के लिये जनसाधारण द्वारा गढ़ लिये गये ऐसे शब्द अर्थेतर शब्द भी नहीं है। वस्तुतः ये जनता द्वारा गढ़े हुये शब्द हैं। अनेक अनुकारी शब्द हिन्दी में ऐसे ही गढ़े गये हैं।

"वाग्भट्टालंकार २, २ में तत्सम के लिये तत्तुल्य काम में लाया गया है और भारतीय नाट्यशास्त्र में समान शब्द काम में आया है।—हेमचन्द्र ने १, १ में तथा चण्ड ने तद्भव के स्थान पर संस्कृतयोनि शब्द का व्यवहार किया है। वाग्भट्टने इसे तज्ज कहा है और भारतीय नाट्यशास्त्र ने १७, ३ इसे देशीमत नाम दिया है है"—प्रा० भा० का व्या० पिशल

देश्य अथवा देशी वर्ग में भारतीय विद्वान् परस्पर विरोधी तत्त्व सम्मिलित करते हैं। वे इन शब्दों के भीतर वे सब शब्द रख देते हैं जिनका मूल उनकी समझ में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के अपने-अपने ज्ञान की सीमा के भीतर या शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में अपनी कम या अधिक चतुराई के हिसाब से देश्य शब्दों के चुनाव में नाना मुनियों के नाना मत है। कोई विद्वान् एक शब्द को देशी बताता है तो दूसरा उसे तद्भव या तत्सम श्रेणी में रखता है। इस प्रकार देशी शब्दों में ऐसे शब्द आ गये जो स्पष्टतया संस्कृतमूल तक पहुँचते हैं किन्तु जिनका संस्कृत में कोई ठीक ठीक अनुरूप शब्द नहीं मिलता, जैसे पासो (=आँख) या पासम् जो अर्द्ध मागधी पासह = पश्यति (देखना है) का एक रूप है अथवा सिव्वी (= सूई) जो संस्कृत सीव्यति से निकला है। देशी भाषा में कुछ ऐसे सामाजिक और सन्धियुक्त शब्द भी रख दिये गये हैं, जिनके सब शब्द अलग-अलग तो संस्कृत में मिलते हैं, किन्तु सारा सन्धियुक्त शब्द संस्कृत में नहीं मिलता जैसे अच्छिवडणम् (आँख बन्द करना) असल में यह शब्द अक्षि+पतन से बना है पर संस्कृत में अक्षिपतन शब्द इस काम में नहीं आता।

इन देशी शब्दों में क्रियावाचक शब्दों की बहुतायत है। इन क्रिया वाचक शब्दों अर्थात् धातुओं का मूलरूप संस्कृत में बहुधा नहीं मिलता पर आधुनिक भारतीय भाषाओं के धातु उनसे पूरे मिलते-जुलते है, जैसा कि देशी शब्द के नाम से ही प्रकट है। ये शब्द प्रादेशिक शब्द रहे होंगे और बाद को सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित में कर लिये गये होंगे। इन शब्दों का जो सबसे बड़ा संग्रह हैं, वह हेमचन्द्र की रयणावली है। ऐसे बहुत से देशी शब्द प्राकृत या अपभ्रंश से संस्कृत कोशों और धातुपाठ में ले लिये गये।

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० १२, १३.)

———

तद्भव रचना के साधारण नियम

साधारण जन के लिये संयुक्ताक्षर का उच्चारण करना कठिन है। उसके लिये विसर्ग और अवग्रह, अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु, श ष का अन्तर, स्वरित, उदात्त, अनुदात्त के भेद, स्वरों में ऋ, ॠ और लृ आदि का शुद्ध उच्चारण प्रायः कठिन होता है। इनके शुद्ध उच्चारण के लिये शिक्षा और व्याकरण का ज्ञान अपेक्षित है। वैदिक काल में भी शूद्र अथवा दास जातियाँ थीं, जिन में ब्राह्मण संस्कृति और आर्यभाषा का पूर्ण प्रचार नहीं हुआ था। इन लोगों की जिह्वा पर संस्कृत शब्द ठीक से चढ़ते न थे और उनका उच्चारण शुद्ध नहीं होता था। अशुद्ध उच्चारण की निन्दा सुसंस्कृत आर्यों द्वारा चाहे जितनी की गई हो पर यह मान लेना चाहिये कि उस समय भी व्याकरणज्ञानरहित अशिक्षित जन का उच्चारण शुद्ध नहीं होता था।

१—अतः संयुक्ताक्षर कई रूपों में बदलता देखा जाता है। क्ष का छ या ख, त्र का त, ज्ञ का ज होता है। अन्य संयुक्ताक्षरों की परिणति किस प्रकार होती है हम दूसरे स्थान पर दिखला चुके हैं। क्षार—छार, खार, भिक्षा—भीख शिक्षा—सीख, गात्र—गात, रात्रि—रात, मूत्र-मूत, ज्ञान—जान, ज्ञाति—जाति आदि।

२—महाप्राण अक्षर प्रायः ह में बदल जाते हैं। महाप्राण अक्षर अल्पप्राण में यह ध्वनि के योग से बने हैं। नख—नह, मुख—मुँह, मेघ—मेह, नाथ—नाह, वधू—बहू आदि।

३—वर्गीय प्रथम अक्षर तृतीय अक्षर में बदल जाते है। क—ग, च—ज, ट—ड, त—न, प—ब।

४—श और ष दोनों के स्थान पर स होता है। ष का कभी-कभी ख भी होता है, जो इस बात का साक्ष्य है कि आर्यों में प्राचीन काल में, किसी शाखा में, ष का ख समान उच्चारण चलता था।

---

१ महाप्राण मे ह की स्थिति रोमनलिपि में लिखने पर स्पष्ट हो जाती है। ख kh घ gh छ ch झ jh ठ th ढ dh थ th ध dh फ ph भ bh.

२ य र ल व के अन्तःस्थ कहे जाने का कारण यह भी है कि ये स्वर और ऊष्म वर्णों के अन्तर्वर्त्ती हैं।

५ संयुक्ताक्षर में स्थित अन्तःस्थ (य व र ल) का प्रायः लोप देखा जाता है। स्वरों और व्यंजनों के बीच अन्तःस्थों की स्थिति है। ये व्यंजन की तुलना में अबल होते है अतः इनका लोप होते देखा जाता है। व्याघ्र—बाघ, पारस्य—पारस, कल्य—कल। अन्तःस्थ में स्वर का गुण भी न्यूनमात्रा में वर्त्तमान रहता है अतः अंग्रेजी में इन्हें Semivowels भी कहा गया है। य व र ल का सम्प्रसारण इ उ ऋ लृ होता है। अतः दोनों का सम्बन्ध सन्धि में भी दीख पड़ता है। ई—य, उ—व, ऋ—र लृ—ल परस्पर सम्बद्ध माने जाते हैं। तद्भव में भी यह प्रवृति दीख पड़ती है। र और ल में अभेद माना जाता है * अतः र का ल और ल का र होते देख जाता है। गाली—गारी, पाली—पारी, नाली—नारी, सुनहला—सुनहरा, कूल—कोर, मूल—मूर आदि शब्द देखें। हरिद्रा—हल्दी[१]

पुनः हिन्दी में र और ड़ में भी किंचित् सादृश्य है—बाड़ी—बारी,

६—ड और ढ का ड़ और ढ़ हिन्दी में प्रायः होते देखा जाता है। नाडी—नाड़ी,

ट का ड़ —साटिका—साड़ी, घटी—घड़ी, वटी—बड़ी, भाट—भाड़ा, कटु—कड़ू।

७ य का ज और व का ब होता है। अन्तःस्थ अबल पड़ते हैं अतः उनमें विकार होना स्वाभाविक है। इसी से प और व तथा र और ल में विकार प्रायः होता है। यमुना—जमुना, याचना—जाँचना, यातु—जादू आदि

वाल—बाल, पूर्व—पूरब, सर्व—सब आदि

८—अन्त्य इ और उ अबल होता है अतः इनका प्रायः लोप हो जाता हैं।

इ—रात्रि—रात पंक्ति—पाँति जाति—जात गति—गत

उ—मधु—मध, बाहु—बाँह, सिन्धु

मूल स्वर हैं— अ इ उ ऋ लृ। इनमें अ को छोड़कर सब का सम्प्रसारण होता है। अतः सब मूल स्वरों में अ ही प्रबल है।

९—कहीं-कहीं अल्पप्राण का तद्भव में महाप्राण हो जाता है।

कुह—खोह, पनस—फालसा, कील—खील।

१—रलयोरभेदः। हरिद्रादीनां रोलः

अल्पप्राण के पूर्व या परे ह (या श ष स का होने वाला ह) आने पर वह महाप्राण में बदल जाता है। हस्त—हाथ, भर्तृहरि—भरथरी, पुस्तक—पोथा।

१०—कभी-कभी महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है।

भगिनी—बहिनी

११—त वर्गीय का ट वर्गीय अक्षर में परिवर्त्तन।

त— पत्—पट, पड़, गर्त—गड्डो आ, गड्ढा

थ— ग्रंथि—गाँठ,

द— दाह—डाह

ध का थ होते देखा जाता है मधुरा—मथुरा, विधुरा—विथुरा (विथुरी)।

१२—वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश का निरुक्त में बहुत महत्त्व है[१] इन सब के उदाहरण तद्भवों में मिलते हैं।

वर्णागम— घृत घीव (ग्राम्य)—घी में वर्णलोप माना जा सकता है घृ– घि त् का लोप। तद्भव में प्रायः इ अन्त्य स्वर नहीं होता अतः घी अथवा त् के अक्षरबल की रक्षा के कारण दीर्घ ई।

वर्णविपर्यय—हिंस—सिंह, खन—नख

ह्रद (ऋ के लोप से हद फिर विपर्यय से)-दह

वर्णविकार— प्रिय—पिय, कथ्—कह, मूल्य—मोल,

वर्णनाश— स्नेह—नेह स्थिर—थिर उद्बाहिनी—उबहनी

१३—एक ही अक्षर के विविध रूपान्तर

र ल ड़— ये तीनों अक्षर हिन्दी में एक दूसरे के निकट हैं। यमकालंकार में ड ल र की एकरूपता मानी जाती है। हिन्दी में भी बड़, बर, नाडी—नाड़ी—गाली—गाली, लड़का—(लरिका ब्रज०)

१—वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च

द्वौचाऽपरौ वर्णविकारनाशौ

धातोऽस्तदर्थतिशयेन योग

तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्

१४— पंचमवर्णों के स्थान पर अनुस्वार या अनुनासिक होता है।

पंखङ— पंख—पाँख,

अञ्चल— आँचल

भण्ड— भांडा. षण्ड—साँड़, रण्डा—राँड

तन्तु—ताँत, यंत्र—जाँता

कम्पन—काँपना

१५—क, च, ट क्रमशः ग, च, ड़ में बदल जाते हैं।

काक—काग, पच—पक, जटित—जड़ा

१६—संयुक्ताक्षर के श ष स का प्रभाव कभी पूर्ववर्त्ती को और कभी परवर्ती अक्षर को महाप्राण बना देता है। व का भ हो जाता है। व का ब तो होता ही है, ब का महाप्राण भ भी होता है। अतः व भी कभी कभी भ हो जाता हैं।

वाष्प—भाप, वृन्ता (क)—भंटा, विनिशा—भिनसार (र का आगम)

१७ लघुकरण की प्रवृत्ति। तीन या तीन से अधिक वर्ण वाले शब्दों को लघु रूप देने की प्रवृत्ति भी तद्भव रूपों में मिलती है। अधिकतर तद्भव तीन अक्षर तक के ही हैं। चार से अधिक अक्षरों के अ-यौगिक अथवा असमस्त तद्भव शब्द विरल है। बड़े तत्सम शब्दों को लघु रूप देने की प्रवृत्ति निम्नांकित शब्दों में देखें।

उपध्याय—ओझा, अनध्याय—अंझा, आदित्यवार—एतवार (इतवार), अक्षयतृतीया—अखतीज, अग्रहायण — अगहन, अमावस्या — अमावस, मावस, पूर्णिमा—पूनो, आदर्शिका—आरसी, अवश्याय—ओस, उपल—ओला कररक्षी—कलछी। कपर्दी—कौड़ी (कपर्दी का क और औड़ी हि० प्रत्यय) खरल—खल, गोधूम—गेंहू गवेरुक—गेरू, गोरूप—गोरू। श्वसुरालय—ससुराल, पाण्डेय—पांडे, कपित्थ—कैथ। चक्रवाक—चकवा, प्रपानक—पना। द्विदल—दाल। सुदी, बदी में भी लाघव की प्रवृत्ति दीख पड़ती हैं।

१८—ध्वन्यात्मक शब्दों की प्रचुरता। यों तो सभी भाषाओं में ध्वन्यात्मक शब्द हैं पर हिन्दी में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत है। महाप्राण अक्षर और न के योग से ऐसे अनेक शब्द बनते हैं। खन, घन, छन, झन, ठन, ढन, फन और भन से बने शब्दों को देखें।

खनखन, घनघन, छुनछुन, ठनठन, ढनढन, फनफन, भनभन आदि। खनखनाना, घनघनाना, छनछनाना, ठनठनाना, ढनढनाना, फनफनाना, भनभनाना,

आहट के योग से इनसे भाववाचक संज्ञायें बनती हैं जैसे खनखनाहट, छनछनाहट आदि।

पर महाप्राण थ और घ से ऐसे शब्द नहीं बनते, क्योंकि थन (स्तन के तद्‌भव रूप में) और घन तत्सम पहले से भाषा में चलते हे।

न के योग से कुछ अल्पप्राण अक्षरों से भी शब्द बने हैं।

कनकनाना, गनगनाना, चनचनाना, तनतनाना, दनदनाना, पनपनाना।

सन से सनसनाना बनता है।

पुनः कुछ शब्द आद्य अक्षर में इ अथवा उ के योग से भी ध्वन्यात्मक शब्द बनते हे।

कन, खन, गुन, चुन, छन, भुन, टुन ढुन फुन, भुन आदि की आवृत्ति से और फिर आहट आदि के योग से बने शब्दों को कुनकुनाहट, गुनगुनाहट चुनचुनाहट, टुनटुनाहट, आ दि। इन शब्दों में क का भी योग होता है। जैसे खुनक, तुनक, टुनक, ध्वन्यात्मक शब्दों में भी क प्रायः जुड़ता है।

खनक, झनक, भनक, तनक, टनक, ठनक आदि शब्द कुछ ध्वन्यात्मक शब्द महाप्राण अक्षरों के साथ म के योग से भी बनते हैं।

छमक, झपक, ठपक, थमक, धमक आदि।

———

कारक-विभक्ति

हिन्दी में ने, को से, का (की के), में, पर ये कारकविभक्तियाँ हैं। आधुनिक विद्वान् इन्हे परसर्ग कहते हैं। परसर्ग उपसर्ग के तुक पर गढ़ा हुआ शब्द है। इन्हें विभक्ति कहना ही ठीक है। संस्कृत में सुप् विभक्तियाँ २१ हैं और वे वचनबोधक हैं। हिन्दी में सब कारकों की विभक्तियाँ नहीं हैं। वचनभेद या लिंगभेद से विभक्ति में भेद नहीं होता। लड़के ने (को, से, का की के, में पर) और लड़कों ने (को, से, का की के, में, पर) आदि रूपों को देखें। ब० व० मे संज्ञा में ही ओं (विकरण) * विभक्ति के पूर्व लगता है। एकवचन और बहुवचन में विभक्ति का एक ही रूप रहता हैं।

ने—हिन्दी में कर्त्ता प्रायः विभक्तिरहित रहता है, केवल भूतकाल की कुछ विशेष अवस्थाओं में ने साथ आता है। यह ने खड़ी बोलो की एक विशेषता है और ने केवल पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में मिलता है। ने का प्रयोग कर्मवाच्य में होता है। विद्वानों का मत है कि यह 'ने' विभक्ति संस्कृत के बालकेन, गजेन आदि तृतीया ए० व० के एन (ङा) से निकला है। एन वर्णव्यत्यय से ने। तृतीया के रूप बालकेन, मुनिना, भानुना आदि का अर्थ 'से' विभक्ति से किया जाता है। बालकेन और मुनिना का अर्थ बालक ने और बालक से और मुनि ने और मुनि से दोनो प्रकार से होता है। संस्कृत तृतीया एकवचन का अनुवाद ने से होता है चाहे डे० का रूप कुछ भी हो। बालकेन ग्रन्थः पठितः, रमया ग्रन्थः पठितः, मया ग्रन्थः पठितः, मुनिना ग्रन्थः पठितः सबका अनुवाद बालक ने ग्रन्थ पढ़ा, रमा ने ग्रन्थ पढ़ा, मैंने ग्रन्थ पढ़ा। अतः अकारान्त पुलिग शब्द के तृतीया एकवचन से ने बना जान पड़ता है। अन्तर यही है कि हिन्दी में करण का अर्थ ने से नहीं 'से' से सूचित होता है।

को—कर्म की और सम्प्रदान की भी विभक्ति है। यह किस संस्कृत शब्द से निकला है, कहना कठिन है। ट्रंप ने कृत—कृतों—को माना हैं।

---

* प्रकृत और प्रत्यय के बीच जो वर्ण आता है उसे विकरण कहते हैं।

विभक्तिविचार के लेखक लिखते हैं—"कात्यायन ने अपने व्याकरण में अम्हाक पस्ससिं सब्बको यको, अमुको आदि उदाहरण दिये हैं। और तुम्हाम् हेन आकं, 'सब्बतोको आदि सूत्रों से तुम्हाकं' अम्हाकं' अम्हे' आदि अनेक रूपों को सिद्ध किया है। प्राकृत के इन रूपों से ही हिन्दी में हमको, हमें, तुमको तुम्हें आदि रूप बने हैं और इनके आदर्श पर ही द्वितीया विभक्तिचिह्न को सब शब्दों के संग प्रचलित हो गया।" (गुरुद्वारा उद्धृत)।

से—इसका अर्थ प्रायः साथ होता है। करण साधन होता है। साधनतमं करणं। कदाचित् साधन के आद्य अक्षर 'स' को संकेत रूप में लिया गया। कुछ विदेशी विद्वान् इसका सम्बन्ध सम् से जोडते हैं। श्री किशोरीदास कहते हैं—'जान पड़ता है कि करण की भिस् विभक्ति का इस् अलग कर के वर्णव्यत्यय से स्+इ और इ को ए कर लिया तो बन गई करण की से विभक्ति।' 'स' संकेताक्षर रूप में ग्रहण किया गया।

का (की, के)—क्रिया से अन्वय नहीं होने के कारण संस्कृत वैयाकरण सम्बन्ध को कारक नहीं मानते। सम्बन्ध का चिह्न 'का' जो भेद्य स्त्रीलिंग होने पर की हो जाता है और बहुवचन में के हो जाता है। 'का' संज्ञा से सम्बन्ध जोड़ता है, क्रिया से नहीं। अस्माकं युष्माकं में क विद्यमान है। इस कं से ही का लिया जान पड़ता है। आकारान्त तद्भव बहुवचन रूप में ए स्वर अंत में आता है, जैसे घोड़े, लड़के। इस ए के प्रभाव से बहुवचन में के (क+ए) होता है।

संस्कृत में 'क' सम्बन्ध का प्रत्यय कुछ शब्दों में है, जैसे भद्रक (भद्र का) यह 'क' भी यह पुष्ट करता है कि क सम्बन्ध का चिह्न है। 'पितु आयसु सब धर्म क टीका' (रामायण) धर्म क—धर्मका। मैथिली में भी 'क' सम्बन्ध का चिह्न है—नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर धीरे धीरे मुरली बजाव'—विद्यापति

यह भी सम्भव है कि यह 'इक' प्रत्यय से निकला हो। सामाजिक कार्य, धार्मिक नेता आध्यात्मिक विषय का अर्थ होता है समाज का कार्य, धर्म का नेता, अध्यात्मक का विषय। इक के इ का लोप करने पर क रह गया। क में खड़ी बोली का पुं० चिह्न आ जुड़ने पर का। अस्माकं, युष्माकं आदि में कं सम्बध का सूचक है की (क्+ई)—क में स्त्रीलिंग प्रत्यय ई जोड़ने से बना।

में—में मध्य के अर्थ में आता है। मध्य के म को संकेताक्षर के रूप में लिया गया, फिर म+ए = मे। म में पंचम वर्ण होने के कारण स्वाभाविक अनुनासिकता है अतः में। इसका सम्बन्ध प्रा० म्मि से है।

पर—उ परि से पर निकला है। वास्तव में 'में' ही अधिकरण विभक्ति है। पर तो स्वतन्त्र शब्द है। पर—ऊपर के ऊ के लोप से। पर का अर्थ पंख भी है, पर से परी। पर पक्षी के शरीर के ऊपर ही रहता है। पर को अधिकरण की द्वितीय विभक्ति मान लेते हैं। जिस शब्द का स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग हो उसे विभक्ति मानना ठीक नहीं जँचता।

अब शुद्ध विभक्तियों को अर्थात् 'ने को से और में' को देखने से यह स्पष्ट है कि 'ने से में' तीनों एकारान्त हैं। को ही एकारान्त नहीं है, कदाचित् इसका कारण है कि सम्बन्ध ब० व० 'के' वर्त्तमान है, अतः 'के' कर्म और सम्प्रदान की विभक्ति भी होता तो सम्बन्ध के 'के' से भ्रम की गुंजाइश थी अतः इस भ्रम से बचने के लिये 'को' हुआ। 'का' सम्बन्ध का प्रत्यय है। सम्बन्ध का कारकत्व विवादास्पद है।

कुछ लोग 'के लिये' से सम्प्रदान विभक्ति का काम लेते हैं। 'के लिये' यदि विभक्ति है तो 'के वास्ते' 'के निमित्त' आदि क्यों नहीं। लिये तो ले धातु से बना शब्द है और ले का भूतकालिक रूप भी है। लिया—एक वचन, लिये—बहुवचन। अतः के लिये या लिये को विभक्ति मानने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।

————

तद्भवों के ज्ञान की उपयोगिता

तद्भव शब्द ही हिन्दी के अपने शब्द हैं। संस्कृत शब्दों का सहारा लिये बिना भी हिन्दी भाव-प्रकाशन की क्षमता रखती है। आवश्यकता है कि हम तद्भव की शैली को ग्रहण करें और हिन्दी को जनसुबोध और स्वाभाविक बने रहने दें। हिन्दी के हजारों शब्द ऐसे प्रचलित हैं— विशेष कर संज्ञायें और विशेषण, क्रियायें और सर्वनाम–जिनके स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग कर हम अपनी हिन्दी को पुस्तकी भाषा बना रहे हैं। आधुनिक काल में तत्सम शब्दों की ओर तेजी से बढ़ाव है। मध्यकाल में जायसी, तुलसी, बिहारी और सैकड़ों रीतिकालीन कवियों को जितना तद्भव शब्दों से प्रेम था, और उनकी काव्यभाषा जनभाषा के जितनी निकट थी, उसकी तुलना में आज की कविता में संस्कृत शब्दावली का अधिक ग्रहण हुआ है। हिन्दी पर तत्समता की प्रवृत्ति के पीछे १९ वीं शती की उर्दू विरोधी भावना का भी हाथ है। जहाँ हिन्दी को जनभाषा के समीप रहना चाहिये वहाँ उन्नीसवीं सदी में लेखकों को संस्कृत शब्दों का मोह हो गया। यह प्रवृत्ति अनेक पुस्तकों के नामों में और नये शब्दों के प्रवेश में देखा जा सकता है। हिन्दी का तथाकथित प्रथम समाचारपत्र 'उदंत-मार्तण्ड' का नाम ही देखें। मैंने आज के कई हिन्दी के स्नातकों से पूछकर देखा—वे उदंत का अर्थ नहीं बता सके। 'भाषाभास्कर' और इतिहास तिमिरभास्कर' आदि शब्दों के 'भास्कर' और 'मार्तण्ड' ने सूरज को ही नहीं सूर्य को भी दबा दिया। जिन शब्दों को तुलसीदास ने भी तद्भव रूप में ग्रहण किया था, उन्हें भी १९वीं शती में छोड़ कर उनके शुद्ध संस्कृत रूप को लेखकों ने चलाया। इस प्रवृत्ति के अनेक कारणों में एक कारण यह भी था हिन्दी के प्रारम्भिक गद्यलेखक संस्कृतज्ञ थे और उन्होंने पौराणिक अथवा धार्मिक विषयों पर लिखा था। बँगला गद्य के प्रभाव पड़ने से भी हिन्दी गद्यशैली तत्समसुखी होने लगी। हिन्दी की प्रकृति क्या है, इस पर सोचने का किसी को अवकाश ही नहीं था। संज्ञा और विशेषणों की बात जाने दें, हिन्दी के अनेक अव्यय और अप्रचलित शब्द भी ग्रहण किये गये। 'और' (जो अपर का तद्भव है) से हमारा काम चल रहा था और चल सकता है पर उसके स्थान पर एवं और तथा धड़ल्ले से चलने लगे। कुछ लोगों

ने च को भी चलाना चाहा; 'तदपि' 'यद्यपि' की बात छोड़ दें—प्रत्युत, वरन्, कदाचित्, कचित् अलम् इतस्ततः, ईषत्, अन्यथा, सकृत, सम्प्रति, शनैः शनैः सम्यक्, अत्र, तत्र, अतीव, अग्रतः आदि क्रियाविशेषण और अव्यय भी हिन्दी में आ गये। तुलसी दास और केशव दास ऐसे संस्कृत के उद्भट विद्वान् भी जिन शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे वे कठिन संस्कृत के शब्द हिन्दी-मन्दिर मे पूजे जाने लगे। यूरोप की नई विद्याओं की पुस्तकें तैयार करनेवाले पाठ्यपुस्तक लेखकों ने सभी शब्दों के लिये संस्कृत का आधार लिया। संस्कृत शब्दों का आकर्षण बढ़ने लगा और आर्यसमाज तथा अन्य हिन्दू संस्कृति के पोषक आन्दोलनों से इसको बल मिला। जो संस्कृत शब्द घिसकर तद्भव बन चुके थे वे भी तत्सम रूप में प्रचलित हो गये। इसके लिए विवाहविधि और अन्य संस्कारों तथा धार्मिक शब्दों को देखें। ऐसा अनेक संस्कारी और धार्मिक शब्द भी जनता में तद्भव रूप धारण कर चुके थे, पर उनका चलन रुक गया और शुद्धतावादियों ने उनके शुद्ध रूप को ही गौरवपूर्ण समझ कर प्रचलित किया। भाषाशुद्धि के आन्दोलकों को तद्भव शब्द अशुद्ध लगने लगे। विद्यालयों में शिक्षक विद्यार्थियों से हिन्दी शब्दों (तद्भव रूपों) का शुद्ध रूप पूछने लगे। रात का रात्रि, साँझ का संध्या, कान का कर्ण शुद्ध रूप सिखलानेवाले शिक्षक शायद यह समझते थे कि रात, साँझ और कान 'अशुद्ध' है। यह कोई नहीं बतलाता था ये ही हिन्दी के अपने शब्द है, ठेठ हिन्दी का ठाठ इन्हीं शब्दों में दिखाई पड़ता है। सरल हिन्दी तद्भवमुखी हिन्दी ही हो सकती हैं। बहुतेरे उर्दू के शब्द, जिनके बिना बातचीत करना कठिन है और जिनके वाचक संस्कृत शब्द प्रयुक्त करने से भाषा में विचित्र और हास्यास्पद कृत्रिमता आजाती है, फिर से सैकड़ों वर्ष बाद हिन्दी में चलने लगे। पद्य में तो पदलालित्य, लय, तुक के निर्वाह और शब्द की रमणीयता लाने के लिये अनेक पर्यायों के रहने से कवि को सुविधा होती है और उसके शब्दचयन की कुशलता का भी परिचय मिलता है पर गद्य में इन गुणों की उतनी आवश्यकता नहीं है। पर हिन्दी में साहित्यक गद्य का अर्थ संस्कृतमुखी गद्य हो गया।

तद्भव शब्दों के अनुशीलन से एक लाभ यह है कि हमें यह ज्ञान होता है कि मध्यकाल में और उसके पूर्व संस्कृत का कौन शब्द जनता में अधिक चलता था और उनके कौन अन्य पर्याय अप्रचलित थे। वे पर्याय कोशों और काव्यों

में भले ही मिलते हों, पर साधारण जन की भाषा में उन्हें स्थान नहीं मिला था।

सूरज इसका सूचक है कि उसको अनेक पर्यायवाची शब्द केवल कोशों की शोभा बढ़ाते थे और कवियों के काव्य-सौन्दर्य में सहायक थे, पर उनका प्रचार जनता में नहीं था। यदि होता तो अवश्य ही उन शब्दों को भी घिसघिसा कर तद्भव रूप धारण करना पड़ता। सूर्य के पर्याय मार्तण्ड, रवि, भास्कर, मरीची, सविता, पतंग, हंस अर्क, भानु तरणि, सहस्रांशु अंशुमाली आदि शब्दों से तद्भव नहीं बने। इसका अर्थ है कि वे केवल पंडितप्रिय कोशगत शब्द हैं जिनका जनता में प्रचार न था। सूर्य का सूरज हुआ। आदित्य का 'एत' एतवार शब्द में दीख पड़ता है।

चन्द्र — चाँद। अन्य पर्याय तद्भव की दृष्टि से अनुत्पादक अनुप्रोद कृव) हैं। शशि, ओषधीश, हिमांशु, द्विजराज, विधु, सुधाकर, मयंक, रजनीश, सोम, राकेश आदि पर्यायों का तद्भवों में विकास नहीं हुआ।

कमल — कँवल, कमल। जलज, अरविन्द, उत्पल, राजीव, अम्बुज पुण्डरीक, सरसिज, नलिन, तामरस, अब्ज आदि अनुत्पादक है।

घोटक — घोड़ा। हय, बाजी, अश्व, सैन्धव, तुरंग आदि अनुत्पादक हैं।

गृह — घर। निकेत, सदन, आगार, आयतन, आवास, निलय आदि अनुत्पादक।

अग्नि — आग। वह्नि, पावक, वैश्वानर, कृशानु, जातवेद आदि अनुत्पादक।

प्रस्तर — पत्थर। पाषण, उपल, अश्म आदि अनुत्पादक।

स्त्री — तिरिया। अबला, वनिता, कलत्र, कामिनी, ललना आदि अनुत्पादक। महिला का मेहारारू हुआ है।

पुष्कर — पोखर। सर, सरोवर, तडाग, जलाशय आदि अनुत्पादक। ह्रद का दह हुआ है।

हस्ती — हाथी। द्विप, कर, नाग, द्विरद, वितुण्ड, वारण आदि अनुत्पादक।

स्वर्ग — सरग। द्यौ, नाक, दिव, सुरलोक आदि अनुत्पादक।

वायु — बाई। समीर, मारुत, अनिल, पवमान, जगत्प्राण आदि अनुत्पादक।

स्वर्ण — सोना। हिरण्य, हेम, जातरूप, कनक, हाटक, अनुत्पादक।

सर्प — साँप। अहि, व्याल, उरग, पन्नग, भुजंग अनुत्पादक।

मेघ — मेह। बलाहक, जीमूत, वारिधर, धाराधर अनुत्पादक। वारिद से बादर।

बाण — बान। विशिख, इषु, शिलीमुख, नाराच आदि अनुत्पादक।

समुद्र — समुंदर। जलधि, पारावार, अब्धि, वारीश, नीरधि।

विद्युत् — बिजली। चंचला, चपला, सौदामिनी क्षणप्रभा, दामिनी आदि अनुत्पादक।

भ्रमर — भौंरा। मधुकर, षट्पद, द्विरेफ, मधुप आदि अनुत्पादक। भृंग-से भेंग तद्भव।

भर्त्ता — भतार। वल्लभ, कान्त—कंत स्वामी—साईं (भिन्नार्थ में) आर्य।

यमुना — जमुना। सूर्यसुता कालिन्दी, अर्कजा, कृष्णा आदि अनुत्पादक।

नदी — तटिनी, आपगा, तरंगिणी, निम्नगा-आदि अनुत्पादक। नदी सरल शब्द है, इसका तद्भव नहीं हुआ।

सर्व — सब। समस्त, अखिल, निखिल, समग्र, आदि अनुत्पादक।

तद्भवों से यह बात मालूम पड़ती है कि कौन संस्कृत शब्द जनभाषा में प्रचलित थे और किन शब्दों को हम पुस्तकी शब्द कह सकते हैं। केवल बहुत सरल शब्द—उच्चारण की दृष्टि से—अपने तत्सम रूप में ही जनभाषा में चले। ऐसे शब्दों में नदी, सागर, कमल आदि हैं।

तद्भव की दृष्टि से संस्कृत शब्दावली का अनुशीलन उपयोगी होगा। इस दिशा में यह संकेत मात्र है।

———

परिशिष्ठ १

प्रत्ययों से शब्द-रचना

अ — अ हलन्त धातुओं में जुड़ता है—विधि अर्थ में।

पढ़् + अ—पढ़, सुन् + अ = सुन,

हलन्त धातु में अ के योग से भाववाचक संज्ञा बनती है। —जाँच (जाँच् + अ), मार—(मार् + अ), लूट, पहुँच, समझ, सूझ, बूझ आदि।

अ के योग के बाद ना (क्रियार्थक संज्ञावाचक प्रत्यय) जुड़ता है—पढ़ना, सुनना, चलना, गिरना, मथना आदि।

पढ़, सुन, लूट आदि को क्रियामूल या प्रातिपदिक (Stem) कह सकते हैं।

पढ़ (विध्यर्थ में) और पढ़ (पूर्वकालिक कृदन्त में अ का उच्चारण कुछ भिन्न होता है। पहले पढ़ में अन्त्य अ और दूसरे पढ़ में आद्य अ पर स्वराघात होता है।

अक्कड़ — कर्त्तृवाचक। इसके जुड़ने के पूर्व आद्य दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। भूल—भुल + अक्कड़—भुलक्कड़।
कूद—कुद + अक्कड़—कुदक्कड़।

अंत — भाववाचक। गढ़् + अंत = गढ़ंत। रट् + अंत = रटंत।

अंकू — कर्त्तृवाचक। उड़् + अंक = उड़ंकू।

आ — संज्ञा। (१) झगड़ + आ = झगड़ा, रगड़ + आ = रगड़ा। आदि इ का गुण रूप ए— मिल—मेल + आ = मेला।

(२) समास में 'आ' का अर्थ 'वाला' होता है और कर्त्तृवाचक संज्ञा बनती है। मिठबोला (बोल + आ) = मीठा बोलने वाला। भड़भूँजा—(भूँज + आ) = भाड़ भूँजने वाला।

(३) भूतकालिक कृदन्त। बन् + आ = बना, मर् + आ = मरा।

(४) कुछ करणवाचक संज्ञाओं में भी 'आ' प्रत्यय है। ऐसी संज्ञायें वस्तुबोधक है और क्रिया में साधन या करण होती है। झूल + आ = झूला, ठेल + आ = ठेला।

(५) कुछ संज्ञाओं में आ प्रत्यय तत्सम्बन्धी वस्तु के अर्थ में आता है। कंठ+आ=कंठा, जोड़+आ=जोड़ा।

(६) कुछ धातुओं में आ के योग से विशेषण बनते है। बढ़्+आ=बढ़ा, घट्+आ=घटा, मर्+आ=मरा।

(७) समूह या व्यापारस्थान में भी यह प्रत्यय आता है। बजाज—बजाजा, सर्राफ—सर्राफा।

कुछ भाववाचक संज्ञाओं में भी आ लगता है और कर्तृवाचक और विशेषण बनते हैं।

प्यार—प्यारा, मैल—मैला, खाट—खाट्टा

इससे क्रियाव्यापारसूचक संज्ञा बनाती है।

आ (ई) भूत कालिक प्रत्यय कह्+आ=कहा, सुन्+आ

आई लड़्+आई—लड़ाई, चढ़्+आई=चढ़ाई, पढ़्+आई पढ़ाई
काम की मजदूरी—कमाना—कमा+आई=कमाई
धुला—ना धुला+आई=धुलाई, सिला—ना—सिला+आई
खोद—ना—खुदाई जोत—ना—जुताई।
विशेषण से भाववाचक गोरा-गोराई, बुरा—बुराई, भला—भलाई।

आऊ इससे विशेषण बनते हैं। आऊ योग्यता के अर्थ में आता है। यह वाला का भी अर्थ देता है। बिकाऊ—बिकने वाला।
चल्+आऊ=चलाऊ (कामचलाऊ, बिक्+आऊ=बिकाऊ।
टिक—टिकाऊ जूझ—जुझाऊ। दिख—दिखाऊ, आगे—अगाऊ, पंडित—पंडिताऊ।

आक कर्तृवाचक प्रत्यय। पैर+आक—पैराक, तैर+आक—तैराक। चालाक।

आकू कर्तृवाचक प्रत्यय। लड़+आकू—लड़ाकू, उड़+आकू—उड़ाकू।

आका लड़+आका—लड़ाका। पट—पटाका, धम—धमाका, धड़-धड़ाका

आड़ी कर्तृवाचक प्रत्यय। खेल—खेलाड़ी, जूआ—जुआड़ी, अनाड़ी।

आन भाववाचक संज्ञा। लंबा—लंबान, चौड़ा—चौड़ान, ऊँचा—ऊँचान नीचा—निचान। मसान, घसान, धँसान, दौड़ान।

आना देशवाचक प्रत्यय—राजपूत—राजपूताना, तिलंग—तिलगाना। हिन्दुआना, मुगलाना।

आनी　　कह + आनी—कहानी

आन,　　आइन स्त्रीप्रत्यय। आनी-मेहतर—मेहतरानी, चौधरी—चौधरानी

　　आइन—लाला—ललाइन, साहु—सहुआइन, ठाकुर—ठकुराइन

आरा (आरी) कर्तृवाचक। हत्या—हत्यारा (हत्यारी) बनज्—बनजारा

आप　　भाववाचक प्रत्यय। मिल् + आप = मिलाप

आपा　　पूजा—पुजापा (पूज् + आपा) जलापा।

　　विशेषण से भाववाचक—मोटा—मोटापा, बूढ़ा—बुढ़ापा

आँयध　　चिरायंध—चिर् + आयँध, कचायँध, धुआँयध।

आयत　　पंच—पंचायत। बहुतायत, तीसरा—तिसरायत

आर　　कर्तृवाचक—लोहा—लोहार, चम—चमार। संज्ञा—कछार

　　(कच्छ + आर) कच्छ = समुद्रतट, दूध—दुधार।

आली　　भुजाली, हरियाली, धताली।

आव　　भाववाचक प्रत्यय। पड़् + आव = पड़ाव, छिड़क् + अ = छिड़काव

　　खींच + आव = खिचाव, बह् + आव = बहाव, घूम् + आव = घुमाव

　　(आदि दीर्घ स्वर का लघु)

आवा　　चढ़ + आवा = चढ़ावा, भुल—भुलावा, बुल् + आवा = बुलावा,

आवर　　जोर—जोरावर, पहन—पेन्हावर (ग्राम्य)

आवट　　भाववचक प्रत्यय। मेल (मिल)—मिलावट, बुन—बुनावट।

　　सज—सजावट। लिखावट, दिखावट आम—अमवट।

आवन　　विशेषण बनाता है। सुह् + आवन = सुहावन, भा + आवन =

　　भावन (मनभावन) लुभ् + आवन = लुभावन।

आवना　　विशेषण बनाता है। संज्ञा में भी लगता है।

　　सुह् + आवना = सुहावना। डर + आवना = डरावना।

　　भय + आवना = भयावना।

ओई　　पतिवाचक प्रत्यय। बहन + ओई = बहनोई, ननँद + ओई = ननँदोई।

ओड़　　कर्तृवाचक प्रत्यय। हँस + ओड = हँसोड़।

ओटी　　लंगोट—(लग + ओटी)

ओला　　ऊनार्थक प्रत्यय। साँप—सँपोला। खाट—खटोला।

　　विशेषण—माँझ—मँझोला।

औआ   दिखौआ, बनौआ

औटा (औटी)—संज्ञा प्रत्यय। औटा—मुख—मुखौटा, चम—चमौटा, काजर—कजरौटा, औटी—चमौटी, कस्+औटी = कसौटी, चूना—चुनौटी, काजर—कजरौटी।

औता (औती) काठ—कठौता, सरौता।
चुन—चुनौती, बाप—बपौती, मान—मनौती।

औंठा (औंठी) अपत्यार्थक। पहला—पहलौंठा। पहलौंठी।

औड़ा (औड़ी)—संज्ञा प्रत्यय। हाथ—हथौड़ा (हथौड़ी)

औना   घिन—घिनौना, खेल—खेलौना,

औनी   भाववाचक प्रत्यय। पीस+औनी = पिसौनी, घिस—घिसौनी,

औरी   संज्ञा प्रत्यय। काँख—कँखौरी घाम—घमौरी।
कचौरी, फुलौरी, अदौरी, दनौरी, बनौरी,

इन   स्त्री प्रत्यय। धोबी—धोबिन, चमार—चमारिन।

इयल   विशेषण प्रत्यय। शान—शानियल अड़—अड़ियल,
सड़—सड़ियल। लतियल, मरियल, डढ़ियल, लठियल।

इया   ऊनार्थक। लोटा—लुटिया, फोड़ा—फुड़िया, डिब्बा—डिबिया
आँख—अँखिया, पाँख—पँखिया,
वृत्तिया कर्मसूचक—कर्तृवाचक प्रत्यय। धुन+इया = धुनिया,
जड़्+इया = जड़िया। रसिया, गढ़िया, छलिया, जालिया
विशेषण प्रत्यय—बढ़िया (बढ़्+इया) घटिया (घट्+इया)
देशीय प्रत्यय—जयपुर—जयपुरिया, कलकत्ता—कलकतिया
बम्बई—बम्बइया, कन्नौज—कनौजिया, पूरब—पुरबिया

इये   कालबोधक प्रत्यय (आपके साथ प्रयुक्त) पढ़्+इये = पढ़िये,
खा+इये खाइये।

ई   यह प्रत्यय कई अर्थों में आता है।
कर्तृवाचक—गुन—गुनी,
वृत्तिबोधक—दलाली, महाजनी, बजाजी,
देशवासी वाचक—हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, बंगाली बिहारी, पंजाबी भोजपुरी आदि

भाववाचक—धातु से—हँस्—हँसी
विशेषण से—खुश—खुशी, गरीब—गरीबी,
मंद—मंदी, सुस्त—सुस्ती, मस्त—मस्ती
ऊनार्थक—टोप—टोपी, गोट—गोटी,
संख्या का समुच्चय—बीसी, पचीसी (गदहपचीसी), तीसी
पेशा या काम करनेवाला, जातिसूचक—धोबी, तेली, गंधी, कोरी
तमोली, माली।

भाषाबोधक—अवधी, भोजपुरी, मराठी, गुजराती, सिन्धी
करणवाचक संज्ञा—रेत्—रेती। करनी, छेनी, कतरनी, नहरनी।

ईला (ईली) विशेषण प्रत्यय। सज्+ईला = सजीला, नोक्+ईला = नुकीला
जोशीला, कँटीला, लचीला, रेतीला, रसीला, लसीला, लचकीला
जहरीला, पनीला, और कँकड़ीला।
स्त्रीलिंग—लजीली, रसीली आदि।

उआ विशेषण प्रत्यय। गेरुआ।
संज्ञा—फाग—फगुआ।
कर्तृवाचक— टहल+उआ = टहलुआ, मछ्+उआ = मछुआ।

ऊ विशेषण प्रत्यय। बाजार—बाजारू पंडित—पंडिताऊ ढाल—ढालू,
पेट्+ऊ = पेटू
करणवाचक प्रत्यय। झाड़्+ऊ = झाड़ू।
खा—खाऊ, उड़्+आऊ = उड़ाऊ जड़्+आऊ = जड़ाऊ
दिख्+आऊ = दिखाऊ।

ऊँ कालबोधक प्रत्यय कह्+ऊँ = कहूँ, सुन्+ऊँ = सुनूँ

ए कालबोधक प्रत्यय। सुन्+ए = सुने, कह्+ए = कहे
क्रियाविशेषण प्रत्यय—लिए, वास्ते, तड़के, मोटे
एरा (एरा) सम्बन्धवाचक प्रत्यय। मामा-ममेरा चाचा-चचेरा
फूफा-फुफेरा।

विशेषण से—घना—घनेरा—बहुत-बहुतेरा संज्ञा से—बास-बसेरा।
कर्तृवाचक—साँप—सँपेरा, कर्तृवाचक क्रिया से—लूट-लुटेरा संज्ञा
से—चित्र (चित्र)—चितेरा काँच-कँचेरा। कसेरा, ठठेरा आदि।

एँ कालबोधक प्रत्यय चल्+एँ = चलें, पढ़्+एँ = पढ़ें

एड़ा थप + एड़ा—थपेड़ा

ऐड़ी कर्तृवाचक प्रत्यय । गांजा—गंजेड़ी, भाँग—भंगेड़ी

एल फूल—फुलेल गुल्ली—गुलेल, नाक—नकेल

एला (एली) थन–थनेला, अँध–अँधेला, हाँथ—हथेली पट्ट (पश्च)—एली पट्टेली

ऐत कर्तृवाचक प्रत्यय । लाठी—लठैत बरछी—बरछैत, डाका—डकैत फेक—फेकैत

ऐया गा—ऐया = गवैया, खे—खेवैया, दे—देवैया,

ऐल खपरा—खपरैल रख—रखैल,

ऐला बिगड़ + ऐल—बिगड़ैल, दाग—दगैल, बन—बनैला, मूँछ—मुँछैला ।

ओ कालबोधक प्रत्यय कह + ओ = कहो, सुन + ओ = सुनो

औवल बूझ—बुझौवल । मूंद—मुंदौवल बदलौवल

औली स्थानवाचक प्रत्यय । अहिरौली (अहीरों का स्थान) गँगौली, मँझौली, रुपौली, चँदौली,

औती बाप—बपौती, मान—मनौती,

औरा ननिऔरा, ददिऔरा, (ग्राम्य) पिठौरी औरी—अदौरी, तिलौरी, कचौरी, बनौरी, आदि

क कर्तृवाचक प्रत्यय । गाहक, चाहक, पाचक घालक ।
ऊनार्थक—ढोल, ढोलक,
स्थानवाचक—बैठक,
स्वार्थीप्रत्यय—थूक, थाक
गुणबोधक—मह—महक, चह—चहक, कड़—कड़क । तड़क, भड़क भनक, थिरक, पलक, फसक, धमक

का छील—छिलका, फूल—फुलका, लाड़—लड़का (जिसे लाड़ किया

की जाय) थप—थपकी, झपकी, कन—कनकी, प्रत्यय ।

जा (जी) जात अर्थ में । भतीजा—(भ्रातृज) भानजा (बहिन का भान, जा)

ट (टा) लंगा—लंगट, लँगटा । काला—कलूटा रोम रोंगटा, नाक—नकटा,

टी ऊनार्थक । बहू—बहूटी

ड़ रोक + ड़ रोकड़ । जाकड़ (जा + कड़) झाँप—झाँपड़ थप + ड़–थप्पड़

ड़ा	चमड़ा, दुखड़ा, लंगड़ा, बछड़ा, टुकड़ा
ड़ी	ऊनार्थक। पाग—पगड़ी, टाँग—टँगड़ी, आँत—अँतड़ी, पलँग—पलँगड़ी।
त	भाववाचक प्रत्यय। रंग—रंगत बच—बचत खप—खपत
तना	परिमाण अर्थ में। इतना, उतना, जितना कितना।
ती	भाववाचक प्रत्यय। बढ़ती,घटती, चढ़ती, कमती,
न्त (न्ती)	न्त—विशेषण बलवन्त, गुनवन्त। न्ती—रसवन्ती, गुनवन्ती।
न	भाववाचक प्रत्यय। ले—लेन, दे—देन। चलन,
ना	करणवाचक प्रत्यय। बेलना, ढकना, घोटना, छन्ना, झरना, पोतना पोछना, क्रिया का सामान्य रूप—पढ़ना, सोना, गाना खाना
नी	भाववाचक प्रत्यय। करनी, भरनी, कटनी, मँगनी, होनी करणवाचक। धौंकनी, कतरनी, नहरनी, कनखोदनी।
प	भाववाचक। भायप।
पा	भाववाचक प्रत्यय। बूढ़ा—बुढ़ापा,मो टा—मोटापा, आप—आपा।
पन	भाववाचक प्रत्यय। बचपन, घुटपन, लड़कपन, घुंघलापन
रा (री)	सम्बन्धवाचक प्रत्यय। मैं—मेरा तू (तैं) तेरा हम—हमारा तुम—तुम्हारा। मेरी, तेरी. हमारी, तुम्हारी।
री	ऊनार्थक। छाता—छतरी—मोटा—मोटरी
ल	विशेषण—घाव—घायल संज्ञा पाँव—घायल
ला (ली)	विशेषण प्रत्यय—धुंध—धुंधला, लाड़—लाड़ला, आगे—अगला पीछे—पिछला, माँझ—मँझला। ली—ऊनार्थक—टीका—टिकली। बिन्दी—बिंदली
यों	प्रकार अर्थ में। ज्यों, त्यों, यों, क्यो
वाँ	विशेषण प्रत्यय। ढाल—ढलवाँ, पीट—पिटवाँ. कट—कटवाँ. क्रमवाचक। पाँचवाँ, सातवाँ, नवाँ।
वार	कर्तृवाचक प्रत्यय। घाट—घटवार, रख—रखवार
वारा	पखवारा, बँटवारा

वाड़ा पीछे—पिछवाड़ा

वाला कर्तृवाचक । रखवाला, ग्वाला (गो+वाला) मिठाईवाला, घंटेवाला,

वैया कर्तृवाचक । रख—रखवैया ।

स भाववाचक । मीठा—मिठास, पी—पियास (प्यास), खट्टा—खटास आप—आपस ।

सरा क्रमवाचक—इच्छा अर्थ में दूसरा, तीसरा,

सा संज्ञा । मुँह—मुहासा, मूँड—मुड़ासा, नींद—निंदासा सादृश्य अर्थ में—कैसा, जैसा वैसा ।

हट भाववाचक । कड़ूवा—कडुवाहट, चिकना—चिकना—चिकनाहट

हरा, हला सोना—सुनहरा, सुनहला । रूपा—रुपहला । एक-इकहरा, दो—दुहरा ।

हा विशेषण । काट—कटहा, मारक—मरकहा

विशेष १ अनेक प्रत्ययों के जुड़ने पर आदि स्वर में विकार आता है । प्रायः दीर्घ का ह्रस्व या ए और ओ का इ और उ में परिवर्त्तन हो जाता है ।

२ कहीं ए और ओ का ह्रस्व उच्चारण होता है और कहीं ए के स्थान पर इ और ओ के स्थान पर उ हो जाता है । जैसे एतवार इतवार. एलाहाबाद और इलाहाबाद तथा गोराई और गुराई, बोआई और बुआई । हिन्दी में आजकल इ और उ वाले रूपों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है । शायद इसका कारण है कि ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ के चिह्न प्रचलित नहीं हुये हैं । पर हमारी लिपि में इनके लिये चिह्नों का चलना जरूरी है । नहीं तो हम नेहरू, मेहता, मेहरा, केहुनी, बोहनी गोइठा आदि के सही उच्चारण अन्यभाषियों को ठीक से सिखला नहीं सकते । बेलना, घोटना, पोतना संज्ञा और क्रिया में अन्तर कैसे स्पष्ट होगा ?

३ तद्भव शब्दों की रचना जानने के लिये प्रत्ययों का ज्ञान आवश्यक हैं। इस सूची में कृदन्त (धातु प्रत्यय) और तद्धित (नाम प्रत्यय) दोनों प्रकार के प्रत्यय दिये गये हैं। धातु (root) व्यंजनान्त और स्वरान्त दो प्रकार के हैं। व्यंजनान्त धातु में अ लगने पर जो रूप बनता है उसे प्रातिपदिक या क्रियामूल (Stem) कह सकते हैं। कुछ प्रत्यय धातु में लगते हैं और कुछ प्रातिपदिक (Stem) में।

— - ——

परिशिष्ट—२

तद्भव-कोश

अ

अकवन—अक-अर्क
अखरोट—अक्खोड़-अक्षोट
अगला—अग्गल-अग्रल
अखाड़ा—अक्खाडय-अक्षवाटक
अगड़धत्त—अग्रोद्धत
अढ़ाई-अद्दक्षइज्ज
अगोरना-आगूरण
अटकल-अर्धकल
अठली-अष्ठीला
अड़हुल-ओड़फुल्ल
अढ़ैया—आढक
अदहन—अद्दह-आ+दहन?
अदरख—अद्रक
अतरसों-इतर-श्वः
अधेला-अर्धल अध+एला
अनवासना-अनु-वासन ?
अनहद-अनाहत
अनाड़ी-अनेड
अनाज—अन्नाद
अपना-अप्पणो-आत्मन्
अम्मा-अम्भा प्रा० अम्बा
अम्मावस-अमावस्या
अमावट—आम्रावर्त्त
अवाँसना—आवासन
अरवा-अरवा (चावल)आलोक(श०स०)
अरुई-अल्लई-अलुकी

अल्हड़-प्रा० ओलेहड
अलसी-अतसी
अहिवात-अविधवात्व (श०सा०)
अहीर-आभीर
अहेर-आखेट
अँगूठा-अंगुट्ठ-अंगुष्ठ
अँगारी—अंगारिका
अँधियार-अंधियाला-अंधकार

आ

आग-अग्गि-अग्नि
आँठी-अष्टील
आगा-अग्र ('आगा'-पीछा)
आज-अज्ज-अद्य
आँटा—अट्ट (मेदिनी)
आ-ना-आ-आगमन
आना-आणक
आम-आम्र
आरा-आर
आला-आलय
आँड़-अंड
आँवल-आमलक
आँव-आम

इ

इकट्ठा-इक-एक-ठ्ठ-एकस्थ
इतराना-उत्तरण ?
इँदारुन-इन्द्रायन
इधर-इध पाली-इध में र का आगम ?

इन–इण-एनं ?
इस्तरी–स्तरी में इ का आगम। 'स्तर' (हृ) करने वाला
इमली–अँबिलिआ अ० भा० अम्लिका

ई

ईख–इ+खु–इक्षु
ईरान–आर्याण ?
ईंगुर–हिंगुल
ईंटा–इट्टा–इष्टा

उ

उकठ–ना–उक्थ
उकड़–उत्कृतोरु
उकता-ना–उत्क
उकसा-ना–उत्कषण
उखड़ना–उक्खड़ उत्खननम्, उत्+स्कद्
उगल-ना–उग्गल प्रा० उद्+गृ।
उगाड़-ना–उद्ग्रहण
उघाड़-ना–उघाड़–उद्घाटय
उचक-ना–उच्चकरण
उचठ–उच्चाटन, उत्क्षिप्त
उचाड़ना–उच्चाटना
उछलना–उच्छलन
उजड़-ना–अव-जरणम् उत्+जॄ उ+जड़
उजला–उज्ज्वल
उठ-ना–उठ-उठ प्रा० उत्+था
उठंग-ना–उठ+अंग–उत्थक अंग
उड़–उड्
उड़िद –(दे०)
उतार-ना–उत्तारण
उतावला–उताव–उत्ताप
उधार–उद्धार
उपारना–उप्पाड़ प्रा० कत्+पाटय
उफन-ना–उत्+फण, उत्फेन
उबल-ना–उत्+बलनम्
उमग–उम्मग्ग-उन्मग्न
उबटन–उव्वटण (अमा) उद्वर्तन
उसा-स–ऊँसास-उत्श्वास
उसार–अवसार
उसिन-ना–उसिन (अमा) उष्ण
उलट-ना–ओलोट्ट प्रा० उल्लुट, वलट्ट (दे०) उत्+लंठन
उल्लू–उलूक

ऊ

ऊधम–उद्धम
ऊन–अउण प्रा० एकोन ऊन–ऊर्ण
ऊसठ–ऊषढ (अमा) उत्सृष्ट
ऊसर–ऊस (ऊष)–र का आगम
ऊँट–उष्ट्र

ए

एक्का–एक्कवई प्रा० एकपदी
एँठन–आवेष्टन

ओ

ओखल–उक्खल उलूखल
ओझरी–ओझरो प्रा०
ओझा–अवज्झाआ, ओझाओ, उवझाओ–उपाध्याय
ओठ–ओट्ठ प्रा० ओष्ठ होठ–हुट्ठ (अमा०)
ओदा–आर्द्र, उद्र
ओदारना–अवदारण
ओर–अवार ? ओ+र प्रत्यय ?
ओस–अवश्याय

ओसा-ना—अव+सो
ओहार-अवधार

औ

औधर-औघड़-अघोर
औघट-अवघट
औरेब-अवरेब

क

कंकर(ड़)—कंकर प्रा०-कर्कर
ककड़ी—कक्कड़िया प्रा० कर्कटिका
कंघी-कंकती
कंजूस-कण+चूस हि०
कंधा-कंधा प्रा० स्कंध, कंधि:
कचनार—कंचणार-कञ्चनार
कचोरा-कचोल कच्चोलक
कछौटी—कच्छपटिया प्रा० कच्छट्टी
कच्छपटिका
कट-ना-कट् कट्ट प्रा० कृत
कटोरा—कट्टोरग-कटोल
कड़छुल—मड़च्छु प्रा०
कड़ा—कटक
कंडाल—कंठाल (भिन्नार्थ)
कड़ाह-कडाह प्रा० कटाह
कटारी—कट्टारी प्रा०
कट्ठा—काष्ठ
कठवत—काष्ठ+पात्र
कत्था-क्वाथ
कन-कण् प्रा० कण
कनेर-कैणेर-कणवीर
कपड़ा-कप्पड़-कर्पट
कबरा-कब्बुर प्रा० कर्बुर
कम्मा-ना-कम्भ (दे)

करबट-करवर्त्त ? (श० सा०)
करेला—कारवेल
करौंदा-करमद्द प्रा० करमर्द
करौंत-करपत्र
कल—कल्य
कलवार-कल्यपाल
कलाई—कलाची (श० सा०)
कलेवा—कल्लवत्ता प्रा० कल्पवर्त्त
कवाछ – कपिकच्छ
कसार—कृसर
कसेरू-कशेरू
कहानी-कह्-कथ्+आनी
कहार-कंहार
काठ-कट्ठ-काष्ठ
काँदना-काँद-प्रा० क्रन्द
काँदो-कर्दम
काँवारथी—कामार्थी
कानी-(उंगुली)-कनीनी
काँसा-कंस प्रा० कांस्यम्
किराना-किर-कृ०+आना,
किस-किस वै०)
किसान-कृषाण
कीचड़-कीच-ड़-चिकिल चिकि के
वर्ण व्यत्यय से कीच।
कीन-ना-कीन-क्रीण
कील-कील, खील
कुंजी-कुञ्ची (कुञ्चिका)
कुदाल-कुद्दाल प्रा०
कुनकुना—'कुन'-कोष्ण
कुबड़ा-कुब-कुब्ज बकालोप
कुल्हड़-कुल्लड़ दे०

कुहरा-कुह+कुहा राप्रत्यय
कुहासा-कुहा-कुहा सा प्रत्यय
कूबड़-कूवर
केकड़ा-कर्कट
केंचुआ-कंचुअ प्रा० किंचुलक कंचुक
केवट-कैवर्त्त
केहुनी -कफाणि
कैथ-कइत्थ प्रा० कपित्थ
कोआ-कोश (टसर का कीड़ा)
कोइल-कोकिल
कोदों-कुद्रव (श०सा०)
कोठ-कुंठ
कोठा-कोष्ट
कोड़ा-कवर
कोरा-क्रोड़
कोली, कोरी-कोलिअ कौलिक
कोस-क्रोश
कोहा-कोश
कौआ-काव वै० काक
कौड़ी-कवड्ड

ख

खट्टा-खट्ट (दे०)
खड़ा-खद् स्थैर्य० से
खड्डा-खड्डा (दे०)
खदुका-खादक
खपड़ा-खर्पर
खत्री-खत्रि प्र० क्षत्रिन्
खंभ-कंब प्रा० स्कम्भ
खँजरी-खंजरीट ? (अर्थान्तर)
खजूर-खज्ज्-खर्जूर
खड़िया-खटिका
खलिहान-खलि-कल-आधान
खाट-खाट, खट्वा
खाड़ी- खाड़-खात। खा+ई।
खाल-खल्ल (दे०)
खाँचा-खच्
खिचड़ी-खिचारु
खिड़की-खड़क्की(दे०)खटक्किका खटक्की
खिरनी-क्षीरिणी
खीर-क्षीर
खीरा-क्षीरक
खील-कील
खुनस-खुन-खिन्न, सप्रत्यय
खुरपा-खुरप्प-प्रा०
खूँटा-खंड ?
खूसट-खूस-कौशिक के कौश से र प्रत्यय
खेना-क्षेपण (श० प्र० सा०) ?
खेप-क्षेप
खेलौना-खिल्लण प्रा० खेलण
खैर-खइर प्रा० खदिर
खोदना- खुद-क्षुद् संपेषणे
खोद-क्षोद
खोंडा-खोड (दंतहीन)
खोरा-खोर प्रा० दे० (पात्रविशेष)

ग

गगरी-गग्गरी-प्रा०-गर्गरी
गड्ढा-गड्डा-प्रा०-गर्ता
गदहा-गद्दह, गड्डह, प्रा०-गर्दभ
गल-ना-गरण। गल-गृ.
गप-गल्प-कल्प ?
गला-गल्ल प्रा० गल
ग्वाला-गअला (दे०)-गोपाल
गहरा-गहर (महा) गभीर
गाँजा-गंजा

गाजर-गृंजन
गाडरू-गारुडी
गाड़ी-गड्डी (दे०)-गन्त्री
गादा-गाथा (श० सा०)
गाय-गा (वै०) य का आगम
गाली-गालि:
गिट्टी-गिट्ठि प्रा० गृष्टि
गिलोय-गलाई प्रा० गडुची
गुद्दा-(गलगुच्छा) गुंछा (दे०)
गुंछा उत्तरोष्ट थुम
गुटका-गुटिका
गुठली-गुठ-गुट (गुटिका) ली प्रत्यय
गुदगुदा-ना-गुद- √गुर्द् क्रीडायां
गुनगु-ना- गुन √ङ ?
गुर्राना-घुरघुर वै०
गुह- √गु पुरीषोत्सर्गे
गूथना- गुत्सन (श० सा०) ग्रंथि
गद-गिंदुक, गेन्दुक
गेहूँ, गोहूँ-गोहूम (दे०) गोधूम
गेरू-गवेरुकं
गेंडुआ-गंडु (वै०), गंडुक
गैंडा-गंडक ?
गोइठा-गोविष्टा
गोजर-खर्जू
गोजी-गवाजन ?
गोड़-गोंड (दे०) = वन
गोठ-गोष्ठ
गोद-क्रोड
गोबर-गोवर (दे०)
गोड दे० = पैर
गुल्ली-गुल (वै०)

घ

घट्टा-√घट्ट चलने
घमोय-घम्मोई (दे०) एक प्रकार क घास
घसीट-ना-घृष्ट
घाट-घट्ट
घानी-घाण-प्रा०-घाणी गाणी(भिन्नार्थ)
घाव-घात
घाँघरा-(दे०)-घाघरं (दे०)
घिस-ना-घंसन प्रा०घर्ष (घिस), घूकी
घीकुँआर-घृतकुमारी
घुग्घू-घूक
घुटना-घुंटक
घूसना-घुस-कुश
घूमना-घूर्णन
घूरा-'कूरा' का भिन्न रूप। क का घ
कूरा- 'कूट' से ?
घूँट-घुट्ट
घूँघट-गुठ। गुंठ का घुंट होना चाहिये। पर घूंट से भेद करने को घ का अभ्यास हुआ।
घोड़ा-घोट(क)
घोटना-√घुट् प्रतिघाते
घोल-घोल
घोसी-घोस-घोष
चक-चक्र
चकरी-चक्री
चकवा-चक्रवाक
चना-चण (क)
चपत-चर्पट
चपाती-चर्पटिका

चबाना–चर्वण
चबूतरा–चत्वर
चमच–चमस्
चमार–प्रा० चमार(चर्मकार)
चलना–चलन
चवन्नी–चतुआणी–(चौ = चतुर)
चसक–चषक
चँगेरी–चंगेरिका
चँद्वा–चँदक
चट–चंड
चारा–चारक
चावल–चाउला (दे०)
चाल–चाल
चास–चासो दे० = हलस्फाटितभूमि रेखा
चाहा–चास
चाँड–चड
चिंघाड़–चीत्कार
चिंचिड़ा–चिंचिड़
चिड़ा–(चिड़िया) चटक
चित–चित (उत्तान)
चितकबरा–चित्रकर्बुर
चिनगारी–चूर्णांगार
चिपटा–चिपिट
चिमड़ा–चिमिढ–चिपिट
चिलमन–चिलमणी (दे०) = यवनिका
इसी से शायद भिलमिल भी
चीखना–चीख√चीक् आमर्षणे
चीतल–चित्रल
चीता–चित्रक
चुक्का–(चुक्कामुक्का) चुक्की (दे०)=मुष्टि
चुप–चुप् मन्दायांगतौ (कुछभिन्नअर्थ)

चुम्मा–चुम्बा चूम√चुम्ब
चुल्लू–चुल्लुक, चुलुक
चुक-ना–च्युत् + कृत
चुन-ना–चिन प्रा० चयन
चुपड़-ना–चोप्पड़ (दे०)
चू–च्यु
चक–चुक्क (दे०) चुक्रक
चूड़ी–चूड़ा ?
चूत–च्युतः, (वै०) च्युति ?
चूतड़–चूत+ड़ अथवा चूत+आड़,
चूना–चुण्ण–चून
चूस-ना–चूष्
चूँची–चूचु (क)
चूस-ना–चूस–चुष
चेला–चेले (दे०) चेल(वै)
चोट–चुट छेदने
चोटी–चोटी (दे०)
चोद-ना–चुद् संचोदने। चोद (ऋ० वे०) चोदना।
चोला–चोलक चोलः
चौकी–चउक्की–चतुष्की
चौधरी—चतुर्धर
चौपड–चतुष्पट्ट
चौपाई–चउप्पइ–चतुष्पदी (चौ+पाई)
चौसर–चतुस्सरिः

छ

छकड़ा–शकट
छक्का–षटक
छछूँदर–छछुंदरः
छतिवन–सप्तपर्ण

छनछना-ना—छन-भण

छपछपा-ना-छप-छप-स्पर्श

छप-ना-चपन

छलिया-छलिया (दे०)

छह-षष्

छाछ-छच्छिका

छाता-छत्र

छान-छाण प्रा० छादन

छाँट-ना-(कलम छाँटना, में छाँटने का अर्थ काटना है।) छुट् भेदने

छाल-छल्ली (दे०)

छिड़क-ना-छिड़-क्षर? छुट् भेदने

छिप (ना)-क्षिप्?

छिनार-छिन्नाल (छिन्न+ला) एक शब्द षण्डाली भी है। छि:+ नारी?

छींक-शिक्य

छींक-चिक्क-छिक्का

छींटा-छटो (दे०) जलच्छटा

छीन-छिन्न

छीम-शिंबी (श० स०)

छुहारा-क्षुधहार:

छेद-छेद० (पैं०)-छिद्र

छेनी-छेदनी

छेरी-छेलिका

छोकड़ा-छोक-शावक? ड़ा० प्रत्यय

छोटा-क्षुद्र

छोड़ना-छोरण (श० सा०)

छोड़-क्षोणि, छोंड़ भोजपुरी

छौंक-अनुकारी शब्द

ज

जंतर-यंत्र

जँतसार-यंत्रशाला

जँभाई-जृम्भा

जड़-जटा (मूल अर्थ में)

जत्था-यूथ

जनेऊ--जन-यज्ञ-एऊ प्रत्य

जबड़ा-जब-जम, ड़ा प्रत्यय

जमाना-यमन (श० सा०)

जमाई-जामातृ

जल-ना—ज्वाली

जवाखार-यवक्षार

जवान-युवान् (उर्दू होकर आगत)

जा-ना—(वै०)

जान-ज्ञान

जाल-जालक

जी—जीव

जीभ-जिह्वा

जुट-ना-युक्त

जुता-ना-युक्त

जूँ-यूका

जूड़ी--जूर्ति

जूँआ-योनी?

जून-द्यवन (श० स०) = बेर

जूस-जूष

जूही-यूथी

जेठ-ज्येष्ठ

जेवरी-जीवा (श० सा०)

जो—य (वि०), यः

जोड़-योग

जोत-योक्त्र

ज्वार-यवनाल (श० सा०)

झ

झड़-ना-झड़ (दे०)-शद् झड़इ-शीर्यते
झरना-'झर'-झर झरणा झड़ी-
निरन्तर वृष्टि
झटपट-झट झच् संघाते
झनझना-ना-झन्-झणाति
झलक-झलिका
झँखाड़-झष=वन आड प्रत्यय
झँझोड़ ना-झर्झन—(श० सा०)
झँपना-झपन
झाऊ—झावू
झाड़-झाट:
झाम—क्षाम
झाल—झल्लक
झालर—झल्लरी
झाँक-ना—अव्यक्षन-?
झाँसा—अध्यास ?
झिल्ली-झिल्लरिआ-झिल्लरि
झीना-क्षीण
झील-क्षीर (श० स०)
झुन-झुणि अ०-ध्वनि

ट

टँकना-टंकण
टकसाल-टंकशाला
टका-टंक
टकुआ-तर्कुक
टट्टी-तटी या स्थात्री (श० स०)
टल-ना-टल् वैकल्ये
टहना-तनु:
टहल-ना-तत्+चलन (श०सा०)
टाँग-टंग
टाँगा-टंग (कुल्हाड़ी)
टाल-अट्टाल
टिकटी-त्रिकाष्ट
टिटहरी, टिड्डी-टिट्टिभ
टिमटिमा-ना-टिम-तिम
टीका-टिक्क (दे०)
टीला-अष्टील
टूट-त्रुट
टेटका-ताटंक
टोंटी-त्रोटी
टोड़ी-त्रोटकी
टोना-तंत्र
टोप-स्तूप
टोल, टोला, टोली-तोलिका

ठ

ठक-अनु० ठोंकने का शब्द
ठग-ठक्क-थक-स्थग ?
ठट्ठा-अट्टहास
ठप्पा-स्थापन
ठस-स्थ.स्नु
ठाँय-स्थान
ठाला-ठल्ला (दे०) = निर्धन
ठाकुर-ठक्कुर
ठाठ-स्थातृ
ठान-अनु+(स्थान)
ठिलिया-स्थानी
ठोड़ी-तुंड
ठौर-ठौ-स्था-रप्रत्यय

ड

डंक--दंश
डंका–ढक्का
डंटा- (डंडा)
डंड–दंड
डल–सरोवर = तल्ल
डब्बा–डिब (श० सा०)
डाला डलिया–डलकम्
डहना–दहन्
डाइन–डाकिनी
डाँट दाँति
डाँस–दंश
डाढ़ा–दग्ध
डाबर–दभ्र
डाल–दारु
डाल-ना–तरनं
डाह–दाह
डिंगल–डिंगर
डीठ–(दीठ,–दृष्टि
डुमरी–उदुम्बर
डूँगर–डुंग--तुंग, द्रोण
डुब्र–डुब्र (वै०)
डैना--डयन
डोगा–द्रोण
डोम--डम
डोरा--डवर प्रा डदर० डोरक
डोल -दोल
डौंड़ी--डिंडिम

ढ

ढक-ना–ढक्क (दे०) ढक्–छद्. स्थग्
ढंग–तंग (तगन)
ढब–धव = गति (श०स०)
ढँढोरा–ढम–ढोल
ढमाढम–दमदमाग्रइ प्रा०
ढाढ़स–ढाढ–दृढ
ढाक–ढक–ध्वांक्ष
ढाल–धार
ढिग–दिक्
ढीँढ़–ढुंढि
ढीठ–धृष्ट
ढील–स्थिल शिथिल
ढूह–स्तूप)
ढेला–अष्ठीला
ढोंढो–ढुंढि

त

तकला, तकली–तक–तकु ला (ली प्रत्य)
तज–त्वच् (एक पेड़)
तजना–त्यजन
तड़का–√त्रड्
ततैया–तिक्त
तमाल–तंबोल प्रा०
तमोली–तंबोली प्रा०
तरना, तैरना–तरण
तरसन–तर्षण
तलवा–तल+वा
तलवार–तलवारि
तसर–तस् अलंकरणे तस+र
ताँबा–तम्ब-ताम्र
तिन–तिण अ०म० तृणु (हेमचन्द्र),-तृण
तिनका–तणक-तृणक

तिरछा–तरच्छ-तरक्षु तिरिच्छि अ० मा० तिर्यक
तुम –तुमं तुं-त्व
तुरन्त–तुर-त्वर(तुरन्तदे०)तुरिद त्वरित
तुरूक–तुरुक्क
तुड़–तुड़-त्रुट तुट्टइ-तुड़ति
तैसा–तइस-तादृश
तो–तओ-ततः
तोम–स्तोम
तेबर–तिस्र
तोला–तोलक
त्योहार–तिथिवार (श० सा०)
थकना–(स्था+क्र)–स्थक
थन–स्तन
थाक–स्था+क
थाना–स्थान, स्थानक
थाप–स्थाप (न)
थाला–स्थल
थाली–स्थाली
थाह–थाह महा० अप०–स्ताध्य–अस्ताध्य थग्घो ऽगन्धो, देशी नामाला । टीकाकार इसका पर्याय 'स्ताध' देते हैं।
थिर–स्थिर
थुल–स्थूल
थून–'स्थूण'
थूरना–थूवणं (श० सा०)
थैला–स्थल ?
थोक–थोक्क–स्तोकं
थोड़ा–थोरं–थोर (महा)–स्थूर

द

दँतुला–दंतुल
दस–दस (वै), दश
देई–दैव
दबक–द्रवक्क प्रा०
दब-ना–दब-दम (दमन)
दलना दर-ण, दलन,
दह–द्रह–ह्रद
दही–दधीक, दधि
दरार–दर+आर दर सं० (दरण)
दलदल–दलाढ्य ? (श० स०,
दवनी–'दमनी' (दमन)
दाहिना, दाहिना–दक्षिण
दाँवरी–दाँव–दाम । री प्रत्यय ।
दाई–दासी,
दाईं–दामन्
दाढ़–दंष्ट्रा, दाढ़क। दाढिका में दाढ
दाढ़ी–दाढिकां (दाढ़)
दाद–दद्रु
दादा–तात ?
दीघो–दीर्घिका
दीवट–दीव-दीप, ट प्रत्यय, दीपस्थ
दुवादस बानी–द्वादशवर्णी
दुसाध–दोषाद
दूब–दूर्वा
दूलह–दुल्लह–दुर्लभ
दे (ना)–दे० प्राकृत धातु है (प्राकृत पिंगल)
देवठन–देवोत्थान
देवल–देवालय

दोना–द्रोण

दोहा, (दोहरा, दूहा)–दुवग्र, दुवहय अप्र० द्विपथक–दोहक। श० स० ने दो+हा (प्रत्यय) से दोहा माना है।

दौड़–द्रू

ध

धाँसना–धँस–ध्वंस–ध्वंसन

धनिया–धणिका–प्रिया

धतूरा–धुस्तूरा

धनिया–धनिका (पौधा)

धनी–धणी–(स्त्री)

धनुआ–धन्वा, धन्वने

धम–द्रम् गतौ द्रम–धाम

धरना–धारण

धावा–धावन

धारी–धारिन

धींग(ड़)–डिंगर

धीमा–मध्यम (आदि म का लोप)

धीया–धोदा (शौ० मा०)–दुहिता

धुंध–धू+अंध (धूमांध)

धुँआ–धूम

धुन-ना–धुण (दे०) धू–हिलाना

धूत–धुत्त-धूर्त

धुने–ध्वनि

धेला–अधेला, के अ के लोप से अध (अर्ध)+एला

धोरी–धौरेय

धौंजना–ध्वंजन

धौरी–धवली

न

नंगा–नग्न

नच-ना–नच–नृत्य

नटुआ–नर्त्तक

नथ-ना–नथ–नस्त ? (श० सा०)

नध-ना–नद्ध–नाद्ध

नत्थी–नह् बधने।

नन्हा–नन्+हा, नन् न्यंच (श० स०)

नवेद–निवेद (न)

नया–नव्य

नल–नलक

नहछू–नह (नख)+छू (क्षौर)–नखक्षौर

नहान–स्नान

नाँद–नंदक

नाई–नापित

नाक–नक्र,

नागा–नग्न (सम्प्रदाय)

नाता–ना-(ज्ञा)–ज्ञाति

नाती–णत्तिय नत्त, नपाट

नातिन–नाप्ति

नार–नाल

नारा (नाड़ा)–नाला

नालकी–नाल+की

नाली–प्र (णाली)

नाव–णव (अप) णावा (शौ)–नौ

निगलना–निगरण

निबरना–निवर्त्तन

निबाह–निर्वाह

निराला–निरालय

निसोथ–निसृता

निहाई–निह–(निहा)–निघाति
निहाल–णेहालू–स्नेहालु
नींद–निद्रा
नीक–निक्त
नीचा–नीचा
नीम–णीम–निम्ब
नेउर–नकुल
नेवज–नैवेद्य
नेवर–नूपुर
नोन–लवण
न्योता–निमंत्रण

प

पंख–पक्ष
पंथ–पथ
पँवाड़–प्रवाद
पंसारी–पणशाली (शालिन्)
पका-का–पिक्क प्रा० पक्क ।
पकड़-ना–प्रकृष्ट?
पकवान–पक्कान्न
पकौरी–पक्व+वटी या औड़ी प्रत्यय
पखारना–प्रक्षालन पक्खाउज्ज प्रा०
पखावज–पक्षवाद्य
पछाड़ना–पच्चार दे० पच्चारइ
पटका–पट्टक
पटना–पत्तन (बड़ा शहर)
पटरा–पटल
पटरानी–पट्ट+राज्ञी
पटवा–पाटवाह
पटवारी–पट्ट+वारी प्रत्यय
पटसन–पाट+शण
पटेल–पट (पट्टा)+एल प्रत्यय
पट्टी–पट्ट+ई (पट्टिका)
पट्टा–पुष्ट
पठान–पइट्ठाण प्रतिष्ठान-एक नगर, जिसके निवासी पठान कहलाये
पठा-ना–पट्टिग्र प्र०-प्रस्थिति (प्रस्थान)
पठ–प्रस्थ
पड़ताल–परितोलन (श० सा०)
पड़ना–पतन
पड़वा, परिवा–प्रतिपदा
पढ़ना–पठन
पतला–पात्रट ? श० स० पत–(पात्र)+ला प्रत्यय ।
पतवार–पात्र पाल–पत–पत्र+वार प्रत्यय
पतियाना–पतिय–प्रत्यय+आना
पत्तल–पत्रल
पत्ता–पत्र
पत्थर–प्रस्तर
पनच–प्रत्यंचा
पनहा–परिणाह
पनही–उपानह
पनाती–प्रनप्तृ
पन्ना–पर्ण
पपड़ी–पर्पटी
पपीहा–बप्पीहा प्रा०
परई–पार (कटोर)–श० सा०
परचून–परिचूर्ण
परखना–परिअर्चन, परीक्षन,
परछाई–प्रतिच्छाया

परवल—पटोल
परथन (पलेथन —परिस्तरन (२) स०,
परेखना-प्रेक्षण
परेवा—पारावत
परों-परुत् वै०)
पलग—पर्यंक
पलटना-पलट्ट, पालोट-प्रलोटन
पलड़ा-पटल
पाल्ला-पार ?
पसरना—प्रसरण
पसाना-प्रस्रावण
पसार—प्रसार
प्रसीज-न—प्र-स्विद्
पँहसुल-प्रहण+शूल (श० स०)
पहचान—प्रत्यभिज्ञान
पहरा—प्रहर
पहिरना-परिधारण
पहाड़-पह+आड़, पाषाण से पाहन, पाह से पह
पाऊ, प्याऊ-प्रपा
पहिया-पहि-प्रधि:
पाग—पाक
पाटना-पाटन
पाठा-पष्ठ (वाह)
पाड़ (र)-पार=किनारा
पाड़ा-पट्ट (न) = किनारा
पाथना-प्रथन
पाद—पर्द (धा० आतमने) पर्दने = अपान वायु
पाधा—उपाध्याय
पान-पर्ण

पा-ना—प्रापण
पानी—पानीय
पारन-पारण
पारा-पारद
पारस-स्पर्श (मार्ग)
पारसी—पारसीक
पालथी—पलत्थ (शौ०) पलह त्थ-पर्यस्त
पाला-प्रालेय
पाली-पालि
पाँव—पाद
पाव-पाद
पावस-प्रावृष
पास-पार्श्व
पासा-पाशक
पाहन-पाषाण
पाहुन-प्राघुण
पिंजड़ा-पंजर
पिंडा—पिंड
पिंड़िया-पिंडिक
पिघल-न—प्र-गलन
पिय-प्रिय
पिटारा—पिटक, पेटक,
पिठवन—पृष्टपर्णी
पितिया—पितृव्य
पित्ता-पित्त
पींजना—पिंजन
पीक—पिच्च
पीटना—पीड़न
पीठ-पृष्ट, पृष्ठि
पीढ़ा—पीठ
पीढ़ी—पीठिका

पीसना–पेषण, पीतल-पिस्
पीहर–पी० पितृ सेपिड पिया (अ० मा०)
पी (पिता)–घर (गृह)
पुआल–पुलाल (वै०)
पुखराज–पुष्पराग
पुट्ठा–पुष्ट
पुड़िया–पुड़+इया, पुड़ = पुट पुटिका
पुतला–पुतल (पुत्तल)+आ पुत्तलिका
पुरइन–पुटकिनी के पुट से 'पुर'+इनी
पुरखा–पुरुष
पुरवा–पुर+वा
पुराना–पुराण
पुलाव–पुलाक (फारसी होकर आगत)
पुलिस–पुलिस (अ० मा०) पुरुष
पूआ–पूप
पूँछ–पुच्छ
पूछ–पृच्छ
पूनी–पूणी-प्रा०
पूला–पुल:
पूरा–पूर्ण ?
पूरी–पूलिका, पौलि
पूस–पौष
पेंड़की–पंडुक
पेंदी–पेंद(पिड+ई
पेखना–प्रेक्षण
पेट–पेट=थैला, भिन्न अर्थ में (वै०)
पेटी–पेटिका
पेरना--पेलना प्रेरण, (पीड़न)
पोंगा–पुंगव
पोर-पोछना–प्रोक्षण

परु:–गाँठजोड़
पौंडा–पौंड्रक
पौ–पाओ अ०भा०–प्रात:
पौधा–पोत
पौना–पादोन
पौरी–प्रतीली ?
पौवा–पाद
पौहारी–पयाहारी

फ

फड़क–फड़—स्पन्द
फंद–बंध
फगुआ–फग्गु—(दे०)—फाल्गु (न)
फट–स्फट-- स्फाटन
फटिक–स्फटिक
फन–फण
फोफला–प्रस्फोट
फाँक–फलक ?
फाँदना–फणन
फाँस–पाश
फागुन–फागुन-अ०-मा०—फाल्गुन
फाटक–फट–फाट+क। स्फाटक ?
कपाट—वर्णविपर्यय ?
फाड़ना–स्फाटन
फालसा–पारुषक
फिटकिरी–फिटक+री फिटक-स्फटिका
फिसलना–प्रसरण। फिस–प्रसर
फुंसी–पनासिका
फुटकर–स्फुट+कर
फुटना–स्फुरण फुर—स्फुर
फूँक–फूं+क। फूं—अनु०

फूट–स्फुट् भेदने। फूल फूटना पुष्फोट
फूफा–पुप्फा–पुष्क्रिआ–पितृस्वसा ?
फेनी–फेनिका
फेफड़ा–फेफ–(फुप्फुस)+ड़ा
फेरना–पेरन प्रा० प्रेरण
फोंक–पंख
फोटा–स्फोट
फोड़ना–स्फोटन
फोड़ा–स्फोट

ब

बंकट–बंक (वड)-ट
बखेड़ा–व्यक्षेप
बंगला–बंग(वंग)+ला बंगाल, वंगाला, वंग+आलय (आलय)आल, आला प्रत्यय 'आलय' से निकला है।
बंजर–बन-जर
बंड़ा–बड़ा, पंड़ा
बंडी–बंड (बंध)+ई
बंदर–वानर
बँधना–बंधन
बँहगी–बँह (वहन)+गी
बकरा–बकर–फारसी होकर आगत
बखान–व्याख्यान
बगला–बग (बक)+ला
बगूला–वायु+गोला
बघारना–बधारण-अवधारण श० स०
बचना–बंचन
बच्चा–वत्स (फारसी होकर)
बछड़ा–बछ–(वत्स)+ड़ा
बज-ना–बज (बाजा) वाद्य
बजरा–वज्रा
बझ-ना–बाझ-बद्ध
बट–वट
बटखरा–वटक
बटलोई–बटल (वर्तुल)+ओई
बट्टा–वार्त
बटुआ–बटु-(वर्तु)+आ
बटेर–वर्त
बड़–वट
बड़ा–बड्रः, वराक ?
बड़बड़ा-ना–बड़-वद्
बढ़ई–वर्द्धकिन् बढ़ (वर्घ)+ई
बढ़िया–बढ़ि–वध्रि
बतरस–बत्त (वार्त्ता)+रस
बतास–वातासह
बत्तक–बट्टअ (अ० मा०) वर्त्तक
बत्ती–वर्त्ती (वर्तिका)
बथुआ–बथु (वास्तु)+आ, वास्तुक
बधाई–बध (बर्द्धन)+आई
बनजारा–बनज (वणिज्)+आरा
बनिया–बन (बनिज्) = इया
बबूल–बब्बूर, वव्वूर
बत [illegible]–वर्तन
बर [illegible]–बलवश
बरछा–बरच
बरसना–वर्षण
बरसात–बरसा+त
बरही–बर्हि
बरात–वरयात्रा
बराना–वारण
बरियारा–बला
बरेड़ा, बरंडा–बरंडक

बरेखी-वर+एखी (ईक्षण के ईक्ष का एख, फिर इ प्रत्यय)।

बरोठा- वर (बार=द्वार)-ओठा-कोष्ठ के क के लोप से।

बल्ला-वल=शाखा

बस्ती-वसति

बसाना-'वास' से क्रिया

बसीठ-अवसृष्ट-(श० स०)

बसूला-वासि+ल (श० सा०)

बहक- बह+क बह-वह् (वाह)

बहली-बहल=बैल

बहिन-बहिणी (वै०), भगिनी

बहुत- बहु+त

बहुरिया- बहू-(बधू)-इया प्रत्यय

बहेड़ा-बहेटक, बहेंडक (बोएटलिक)

बाँक, बाँका-बंक

बाँझ-वन्ध्या

बाँट-वट

बाँधना-बंधन

बाँस-वंश

बाँह-बाहु

बाई-वायु

बाड़ा-वाट

बाँया-वाम

बाग-वल्गा

बाट-वट्ट-वर्त्मन्

बाड़ी, बारी-वाटिका

बादल-वारिद

बाप-वपिल

बामी-बम्मिअ-वाल्मीकि,

बार-वार

बारी-वाटीं

बाल-वाल

बाली-वालिका (कर्णालंकार)

बालू-वालुका

बावला-वाउल प्रा०-वातुल

बावली-बाव-(वापी)+ली

बाहर-बाह्य, बहिर्

बासी-वासित

बिंदी-विन्दु

बिक-ना-विक-विक्रय

बिक्री-विक्रय

बिचरना-विचरण

बिच्छु-विच्छ-वृश्चि (क+ऊ)

बिछोह-विच्छोह

बिछाना-विच्छादन

बिजली-बिज-विद्यु (त्) + ली

बिनती-विनति

बिन-ना-विनयन

बिजौरा-बिज (बीज)+औरा

बिबाई-विपादिका

बिरवा-विरुध

बिल-विल

बिलख-ना-बिलख-विकल (क का ख) वर्णविपर्यय।

बिलार-बिलार पा० बिलाल वै० बिडाल,

बिसायँधा-बिसा-वसा+आयंध

बिसूरना-बिसूरण श० सा०

बिस्तर-विस्तर (फारसी होकर आगत)

बिहड़ना-बिहंडन प्र०-विघटन

बिहरना—विहरण
बिहान-बिहण-बिहा-(विभा)+न
बीग-ना—विकी (रण—(ग्राम्य)
बीच—√विच घा० उ०
बीछ-ना-√विच्, विचयन
बीट-विष्टा
बीड़ा—वीटक, वीटा
बीफे-बिहफ्फइ-वृहस्पति
बुंदा—बिन्दु
बुड्ढा-बुडढ-वृद्ध
बुन-ना-वयन
बुरा-विरूप ?
बूझ—बुद्धि
बूटा—विटप
बूड-ना—बुड, बुल
बेंग-व्यंग
बेत-बेतस्, वेत्र
बेटा—बिट्ट, बेटी-बिट्टि—प्रा०
बेठ—विष्टि=बेगारी
बेड़ा—बेड़ा
बेनी—वेणी
बेल—विल्व
बेलन—वेलन
बेसन—वेसण प्रा०—वेसन
बेसर—बेसवार
बाँगा—व्यंग
बैगून—वंगण ? (श० सा०)
बैजनाथ वैद्यनाथ
बैठ-ना—(प्र) विष्ट
बैना—बांयण-वायन-(भोज्योयापन)
बैल-बइल्ल प्रा-लीवर्द
बोका-बुक्क (वै०)

बोकला—वक्कल-वल्कल
बोदा—बोंद-(दे०),
बोझ—बाह्य
बोल-ना—बोंलो (कल कल)
बोहारी—दे० (=झाड़ू
बौछार—वायु+क्षार
ब्याज—व्याज
ब्यालू—विग्राले-विकाले
ब्याह—विवाह
ब्योंत—व्यवस्था

भ

भंगी—भंगि
भंटा—वृंता (क)
भँवरा—भ्रमर
भकुआ—भक-भेक
भटक—भ्रान्तक ?
भट्टा—भट्ट प्रा०-भ्राष्ट
भतीजा—भ्रातृज
भत्ता—भर्त्त
भद्दा—भद्र ? भद्+आ
भभूत - विभूति
भरना—भरण
भारगा—भारिक
भला—भल्ल (वै०)
भाँड़—भंड, भाण
भांडा—भाण्ड
भाई—भाया (ग्र० भा०) भ्राता
भाटे—भट्ट
भाड़—भ्रष्ट
भात—भक्त
भाथा—भस्त्रा

भाप—वाष्प
भालू—भल्लुक
भावेज—भ्रातृजाया
भिंडी—भिंडी
भिखारी—भिख (भीख)- भिक्षा
भिलावाँ—भल्लातक-भल्लात
भी—पि, अपि के अ का लोप
भीत—भित्ति
भुट्टा—भ्रष्ट
भूक—भुँ-अनु०+क, वुक्क (दे०)
भुरकना—'भुर' (भुरण)+क
भुस—बुष
भूख—(बु) भुक्षा
भेरा—बभ्रु (वै०)
भूल-ना—भुल्लइ-प्रा०
भूँज-ना—भर्ज (वै०)
भेष—वेष
भैंस—महिष
भोंदू—भोंद-बोंद
भोट—भोटग
भोटान—भोटान्त
भौं—भौहा (अप)—भ्रू
मँडरा-ना—मंडरा-मंडल

म

मऊ—पऊ (दे०) = पर्वत
मकई—मर्कक
मकड़ा—मक्काड़ा (दे०) मक्कोड़ा-मर्कट
मकुना—मनाक
मकोय—काकमाता ? (श० सा०)
मक्खन—म्रक्षण
मक्खी—मक्षिका
मग—मार्ग
मगद—मुद्ग
मगर—मकर
मचान—मच-(मंच)+स्थान
मचद—मच्छ-(वै०) मत्स्य
मच्छर—मच्छ (मश)क
मछली—मश्चली
मझधार—मझ (मध्य) धार
मटर—मधुर (श० सा०)
मटका—मट्टक
मठा—मस्तु
मढ़ना—मंडल
मतीरा—मेट
माद्धम—मध्यम
मनेहार—मणि (कार)+हा
मनुहार—मान+हर
मलबा—मल्ह
मरना—मरण
मरसा—मारिष = एक साग
मरहठा, मराठा—महाराष्ट्र
मर्द—मर्त (फारसी होकर आगत
मलन—मलना
मलार—मलनार
मस—श्मश्रु
मसा—मांस
मसान—मसाण-श्मशान
मस्त—मत्त (फारसी होकर आगत)
मंहत—महत्
मेहरी—महिला, महेला
महीना—माह (मास)+ईना
माँमना—मार्गण

माँझी—मांझ (मध्य) मंझधार में नाव खेने वाला ?
माँड़—मंड
माँड़ा—मंड ?
माई—मातृ
माख—मक्ष = रिस
माथा—मत्थ-मस्त (क)
मानिक—माणिक्य
मामा—मामक
माशा—माष, मस
माहुर—मधुर
मिर्च—मरिच
मिलना—मिलन
मींड़—मीडम्
मींडना—मीड-मृण
मीठा—मिष्ट
मीस-ना—मीस-मिष
मुंडा—मुंडी
मुँदरी—मुद्रा
मुआ—मृत
मुक्की—मुष्टिका
मुगदर—मुद्गर
मुट्ठी—मुष्टिका
मुड़ना—मुरण
मूँग—मुद्ग
मूंड—मुंढ—मूर्धन्
मूँड़न—मुंडन
मूँदना—मुद्रण
मूस—मूस (वैं०) मूसक
मूसर—मोषण
मेढा—मेढ़
मेंथी—मेथिका
मूसना—मोषण
मेला—मेलक
मेंहदी—मेंधी, मेन्धिका
मेहरारू—मेहना
मैनफल—मैन (मदत) फा०
मैनसिल—मनः शिला
मोखा—मुख
मोच—मुच
मोची—मोच (क) मोचिन्
मोटा—मुष्ट-मीव्
मोठ—मकुष्ट
मोती—मोत्तिअ-मौक्तिक
मोथा—मुस्तक
मोर—मयूर
मोर—मूल्य
मौर—मउड—मुकुट
मौसी—मातृस्वसा

र

रँगना—रंजन
रँभाना—रंभन
रंडी—रंडा
रखना—रक्षण
रच-ना—रचन
रतालू—रक्तालु
रस्सी—रस्सि-रश्मि
रसोई—रस+ओई प्रत्यय, रसवती
रहँट—रहट्ट-अरहट्ट प्रा०-आरघट्ट
रहना—रह-राज
रहस—रहस्
राँगा—रँग

राँड़—रंडा
राणा—राजन्य
राँधना—रंधन
राय, राव—राय, (रै का ब० व०)
राध—रक्ष
रानी—राज्ञी
राय—रै का ब० व० राय: (सम्पत्ति)
रायता—राजिकाक्त (श० सा०)
रासो—रासक
रिझाना—रंजन
रिस—रुष
रीठ—रिष्ट
रीढ़—रीढक
रूई—रोम ? (श० सा०)
रूख—वृक्ष
रुखा—रुक्ष
रुपया—रूप्यकं, रूप्य
रुँधना—रुंधन
रूठा—रुष्ट
रूरा—रुढ = प्रशस्त (श० सा०)
रूस—रुस (अप)—रुष्
रेंगना—रिंगन
रेंड—एरंड
रेती—रेत्र, रेवती ?
रेवा—रोहित
रोंगटा—रोंग (रोम + टा
रोकड़—(रोकड़ नकद + ड़ (श० सा०)
'रोक क्रय' से भी यह निकला माना जाता है।

ल

लंग—लंक
लंगूर—लांगूली
लंगोट—लंग (लिंग) + ओट
लंबा—लंबा
लग्गा—लकुड
लट—लट्वा
लट-ना—लट-लड
लड़का लड़ (लाड़) + का लड़-लठ
लड्डू—लड्डुक:
लत्ता—लत्तक
लद—ऋद्ध (श० स०)
लबार—लब (लप) + आर
लल्लन-ललन—ललन
लवनी—नवनीत
लवलीन—लव (लय) लीन
लस्सी—लस (न) + ई
लँहगा—लंक + अंगा
लहना—लभन
लहसुन—लशुन
लहू—लोह
लाँग—लांगू (ल)
लाख—लक्ष
लाखा—लाक्षा
लाज—लज्जा
लाड़—लाल (न)
लाद-ना—लाद-लब्ध
लार—ला (ला) + र
लाल—लाल (क)
लावा—लाव
लाह—लाक्षा
लिखना—लिखन
लिपट-ना—लिप्त

लीक—लिख
लीपना—लेपन
लुंडी—लुंडिका
लुढ़क—लुढ़ √लुढ् √लुड् विलोडणे
लुभाना—लुभ् लुब्ध
लूट—लुष्टि, √लुट
लूला—लून
लेई—लेह्य, लेही
लेंड—लेंड
लेट-ना—लुंठन
लेवा—लेप्य
लोंदा—लुठन
लोई—लोमीय
लोक-ना—लो (प)+क
लोखर—लो (ह) खर-(खंड)
लोटना—लुंठन
लोढ़ा—लोष्ट
लोंथ—लोष्ट ?
लोध—लोध्र
लोमड़ी—लोम+लूम-ड़ी
लोहू—लोहित

स

सँकरा—संकीर्ण
संखिया—शृंगिका
सँड़सा—संदेश, संदंश
सँडा—शंड
सँभाल—संभार
सक—सक-शक्य
सक-ना—सक-शक्य
सकार-ना—स्वीकार
सगुन—शकुन
सग्गड़—सग्ग (शक-ट) ड़
सच—सच्च-सत्य
सजन—स्वजन
सज्जी—सर्जिका
सट-ना—स-स्था
सट्टी—हड्डी
सड़क—सरक
सड़ना—सरण
सत्तू—सत्तुक
सन—शण
सनक—शका
सनना—संधम् (श० सा०)
सनाह—सन्नाह
सनीचर—शणिचर-शणिश्चर
सपना—स्वप्न
सपाट—सपट्ट
सबेरा—सवेला
समझ—सम्बुद्धि ?
समा-ना—समा (वेश)
सरक-ना—सरक
सरपट—सरप-(सर्प) ट
सरपत—शर पत्र
सरवार—सरयू+पार
सरहज—श्यालजाया सार-श्याल
सराव—शराव
सराह-ना—सलाहण-श्लाघण
सरौता—सर (सार—लोहा+श्रौता)
सलोतरी—शालिहोत्री
सलोना—सलावण्य
सँवाग—स्वांग

ससुर—श्वसुर
ससुरा—श्वशुर्यः (गाली के अर्थ में
ससुराल—श्वसुरालय
सहदेई—सहदेवा
सहना —सहन
सहरी—शफरी
सहेज—साहिज्ज, सहिज्ज प्रा—साहाय्य
सहारा—सहा (सहाय) + रा
सहिजन—सोंहजनो (दे०) शोभांजन
सहेली—सहेल=क्रीडासक्त, खेलाड़ी,
साँगी—शंकु
साँचा—स्थाता
साँझ—सन्ध्या
साँड—षण्ड
साँभर—सम्भल
साँवला—श्यामला
साँवा—श्यामक
साँस—श्वास
साँईं—स्वामी
साकट—शाक्त
साका—शाका
साखी—साक्षी
साग—शाक
साज—सज्जा
साजन—स्वजन
साझा—सहार्ध, साहाय्य
साड़ी—सारी (सारिका)
साठी—षष्टक
साढ़ू—श्यालिवोढ़ी
साथ—सार्थिक षाष्ट
सान—शाण, शान तेजने

साबर—संबर
सालन—सलवण
सावन—श्रावण
साही—सेधा
साहु—साधु
सांस—सास (महा०)–सासुए (शौ०)
–श्वश्रु
सिंगार—श्रृंगार
सिंघाड़—श्रृंगाटक
सिंचाई—सिंच (न) + आई
सिआर—श्रृंगाल
सिकड़ी—सिक–श्रृंख (ला) + ड़ी
सिख—शिष्य
सिखरन—श्रीखंड
सिड़ी—श्रृणीक
सिंया—सीता
सिर—शेर
सिरहाना—सिरह (शिरस्) + आना
शिरोधान
सिल—शिला
सिवान—सींव–(सीमा) + आन
सींग—श्रृंग
सीख—शिक्षा
सीख-ना—शिक्षण
सीझ-ना—सिद्ध
सीटी—'सी' (अनु) + टी,
शीतृ (श० सा०)
सीठा—शिष्ट, शिष्टा
सीड़—शीत
सीढ़ी—सेढ़ी (अ० मा०) श्रेढ़ी—
(बोएटलिक)—श्लिष्ट

विद्वानों की सम्मतियाँ

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

हिंदी में भाषा-अध्ययन से संबंधित साहित्य इतना कम है कि इस विषय की प्रत्येक पुस्तक का हिंदी भाषा का विद्यार्थी स्वागत करेगा। प्रस्तुत पुस्तक में हिंदी भाषा के इतिहास की सामग्री को तद्भव रूपों के अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। अनेक स्थलों पर नये सुझाव भी हैं। शब्द-व्युत्पत्ति का विषय जटिल है। इस ग्रंथ के प्रकाशन पर मैं सुयोग्य लेखक को बधाई देता हूँ। आधुनिक भाषाओं में तत्सम की तुलना में तद्भव को ऊँचा स्थान मिलना चाहिए। इससे मैं लेखक से पूर्णतया सहमत हूँ।

डॉ० रामकुमार वर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

आपकी भेजी हुई हिन्दी तद्भव शास्त्र की प्राथमिक प्रति मिली। पढ़ कर सुख और संतोष मिला। राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप और महत्त्व को समझने के लिये यह ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। भाषा के विकास का अनुशीलन जहाँ एक ओर तद्भव की स्थिति स्पष्ट करेगा वहाँ जनभाषा में प्रचलित शब्दों की मनोवृत्ति से परिचित करायेगा। इसके द्वारा हिन्दीतर भाषाओं से समत्व स्थापित करने का भी द्वार खुलेगा।

मैं इतने सुन्दर ग्रंथ की रचना के लिये आपको बधाई देता हूँ।

डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्राचार्य जगजीवन कॉलेज, आरा,
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय

प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव ने 'हिन्दी तद्भवशास्त्र' नामक ग्रंथ लिख कर हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है। तद्भव शब्दों के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में यह प्रशंसनीय प्रयास है। हिन्दी के प्रचलित आधुनिक

पुस्तक के दो परिशिष्ट इसकी उपयोगिता और बढ़ा देते हैं। परिशिष्ट २ में शेखरजी ने कई शब्दों के विषय में नये मौलिक सुझाव दिए हैं। सर्जनात्मक प्रतिभा के धनी शेखरजी कवि के रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही; यहाँ उनका अध्यापकत्व और भाषावैज्ञानिकत्व भी परिस्फुट हुआ है। इस क्षेत्र को समृद्ध बनाने के लिए मैं उनका स्वागत करता हूँ, और आशा करता हूँ कि वे इसी तरह की एक-एक पुस्तक हिंदी के 'देशी' तथा 'विदेशी' शब्दों पर लिख दें, तो बड़ा उपकार होगा।

———